उठता चाँद डूबता सूरज

न. ई. विश्वनाथ अय्यर

डॉ० विश्वनाथ अय्यर के निबन्धों को पढकर ज्ञात होता है कि आपके निरीक्षण का क्षेत्र बहुत व्यापक है और दृष्टि बहुत गहरी। इस लघु-निबन्ध-संग्रह में एक ओर केरल के कोवलम बीच का आकर्षक वर्णन है तो दूसरी ओर कश्मीर के इतिहास और प्राकृतिक सौन्दर्य की छटा का मनोहारी दर्शन है।......आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के प्रेरणादायक व्यक्तित्व का श्रद्धापूर्ण रेखांकन है, साथ ही मानव-मच्छर-संवाद के रूप में एक विनोदपूर्ण चर्चा भी।

डॉ० अय्यर की लेखन-शैली बहुत सहज, प्रांजल और रोचक है।

प्रो० अनिल विद्यालंकार

"उन्होंने ये ललित निबन्ध विविध विषयों पर लिखे हैं जिनमें यात्रा-विवरण तो हैं ही, हिन्दी के उद्भट आलोचकों के संस्मरण भी हैं। प्रो० अय्यर की निबन्ध-लेखन की शैली में जैसा प्रवाह है वैसा सामान्यतया नहीं दीखता।"

डॉ० बालगोविन्द मिश्र

श्री पुरुषोत्तम मोदी विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी को

भेंट की गई

उठता चाँद डूबता सूरज



डॉ० एन. ई. विश्वनाथ अय्यर
एम. ए. (हिन्दी, संस्कृत) पी-एच. डी.



स्वाति प्रकाशन
त्रिवेंद्रम, केरल

उठता चाँद डूबता सूरज

ले० डॉ० एन. ई. विश्वनाथ अय्यर

प्रथम संस्करण : अप्रैल 1984

मूल्य : रु० 16/- (सोलह रुपये)

मुद्रण : राष्ट्रवाणी मुद्रणालय, त्रिवेंद्रम-14

प्रकाशक : स्वाति प्रकाशन, 26/2035, कालेज लेन, त्रिवेंद्रम-695001

UTTHA CHAAND DOOBTA SOORAJ

BY DR. N. E. VISWANATHA IYER

Price Rs. 16/-

SWATHI PRAKASHAN
26/2035, College Lane,
Trivandrum - 695 001

संदर्भिका

डा० विश्वनाथ अय्यर को किसी परिचय की अपेक्षा नहीं। उनके ललित निबन्ध हिन्दी के पाठकों को सहज ही आकृष्ट करते रहे हैं। अपनी सरल भाषा, ऋजु शैली और विनोदमयता के कारण वे अजाने ही मन को गुदगुदा जाते हैं। प्रकृति की गोद में पला लेखक अपने निबन्धों में प्राकृतिक सुषमा की मनोहारी छटा बिखेर कर उन्हें मकरंदमय बना देता है। यह केरल की सस्य-श्यामला धरती का प्रताप है।

डा० अय्यर के ललित निबन्धों का यह दूसरा संग्रह है। पहला संग्रह 'शहर सो रहा है' अपनी मनोरम शैली के कारण बहुचर्चित रहा था। इस संग्रह में पंद्रह निबंध हैं जो मुख्यतया यात्रा-संस्मरणों पर आधारित हैं, यद्यपि 'मानव-मच्छर-संवाद' जैसे कुछ विनोदकारी निबंध भी इसमें मिलेंगे। देशाटन लेखक का प्रमुख व्यसन रहा है। घुमक्कड़ी में वह अपने जीवन की कटुता-कुंठा को डुबो कर इस महान देश की विराटता में खो जाता है। उसका अपना प्रदेश केरल भी कम लुभावना नहीं। वह जगह-जगह पर उसकी मनोरम झांकियों में तो रमता हीं है, साथ ही अन्य प्रदेशों की सुषमा को भी उसका सौंदर्यग्राही मन गदगद् होकर ग्रहण करता है और उदारता से उनकी प्रशंसा करने लगता है।

"आ: यह धरती भी कितना देती है" नामक निबन्ध में कर्नाटक के डाबों की महिमा गाते हुए लेखक के मुंह में पानी भर आता है: "कर्नाटक की यात्रा करते केरलीयों का गर्व चूर हो जाता है। केरलीय लोग अपने यहाँ के कल्पवृक्ष (नारिकेल वृक्ष) कीं प्रशंसा करते नहीं अघाते। लेकिन वे लोग कर्नाटक की सड़कों के किनारे जहां-तहां लगे हुए डाबों का झुरमुट देखकर शरम से जमींन में गड़ जाते हैं। कर्नाटक के डाब यात्रियों का मुंह मीठा करते हैं और दिल को ठंडक पहुचाते हैं।"

श्रीनगर की डल झील की छटा देखकर लेखक की प्रतिक्रिया यों व्यक्त होती है: "प्रथम दृष्टि पर मेरा मन कहने लगा कि कोचिन की विशाल झील के सामने यह कुछ भी नहीं है। झीलों और नदियों के राज्य से आकर मुझे डल झील क्षणभर केंलिए 'डल' ही लग रही थी। सोचने लगा कि क्या हिन्दुस्तानियों के दिमाग खराब हो गए हैं कि वे इस झील पर मर रहे हैं। मगर उत्तर मिला

कि पहाड़ बर्फ, झील बाग, नौका विहार, हाउस बोट आदि अनेक प्रकार के आनन्द एक-साथ एक ही जगह मिलते हैं तो कश्मीर में। डल झील उसका मुख्य आकर्षण है।"

"लीजिए आपकी चाय" नामक निबन्ध में लेखक का एकत्व-भाव देखिए : "असम की राजनैतिक समस्याओं पर मतभेद हो सकता है। मगर असम की चाय की मिठास पर मतभेद नहीं हो सकता। असम राज्य का स्मरण करने पर अयाचित रूप से असमिया चाय याद आती है। क्या पूरब क्या दक्षिण, देश भर की चाय भारतवासियों की जीभ और जी को तरावट पहुँचाती है—"दक्षिण, उत्तर, पूरब, पश्चिम मेल कराती मीठी चाय।"

कहां तक गिनाऊँ! प्रत्येक निबन्ध में लेखक की सहृदयता, समदृष्टि और एकताबोध के दर्शन होते हैं। आज जब चारों ओर राजनीतिक संकीर्णता का बोलबाला है और प्रत्येक राज्य अपने बराबर किसी अन्य को मानता ही नहीं समूचे देश की प्राकृतिक सुषमा को, उसकी समृद्ध सांस्कृतिक दाय को एकसूत्रता में पिरोनेवाले इन ललित निबन्धों का अपना ही महत्व बन आता है।

आशा है, डा० अय्यर के पहले निबन्ध-संग्रहों की भांति इसका भी खूब स्वागत होगा।

नई दिल्ली
25 3-1984

रणवीर रांग्रा

लेखक के दो शब्द

"शहर सो रहा है" के प्रकाशन के कई वर्ष बाद मेरा दूसरा ललित-निबंध-संग्रह 'उठता चाँद डूबता सूरज' राष्ट्रभारती के सुधी पाठकों के कर-कमलों में सविनय समर्पित है। मेरी इस रचनाविधा को सर्वप्रथम प्रेरणा-प्रोत्साहन जिन सहृदयों से प्राप्त हुए उनमें स्व० प्रेमनारायण टंडन, संपादक, रसवंती और वरिष्ठ प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, सबसे प्रमुख थे।

नये संग्रह की रचनाएँ प्रकाशित करने की सद्भावना जिन पत्रिकाओं ने दिखाई है उनमें नई धारा पटना) ज्योत्स्ना (पटना) साहित्य मंडल पत्रिका (कोचिन) तथा केरल ज्योति (त्रिवेंद्रम) का विशेष आभारी हूँ।

परम हितैषी मित्रवर डॉ० रनवीर राँग्रा ने भूमिका से इस पुस्तक की गरिमा बढाई है। सर्वश्री डॉ० विद्यानिवास मिश्र, लल्लन प्रसाद व्यास, प्रो० वाचस्पति मिश्र, तथा प्रो० अनिल विद्यालंकार ने सम्मति के रूप में आशीर्वचन दिया है। इनके स्नेह की कृतज्ञता ज्ञापित कर उसे हलका बना देने की इच्छा नहीं हो रही है।

"उठता चाँद डूबता सूरज" को अन्य विशेषण देने की असमर्थता के कारण मैंने ललित-निबंध-सग्रह बताया है। स्नेही पाठक इसे जो नाम दें और दुलारें उसे सहर्ष स्वीकार करूँगा।

राष्ट्रवाणी मुद्रणालय के कर्मचारियों का, विशेषकर व्यवस्थापक मित्रवर एम. बालकृष्णपिल्लै का आभारी हूँ कि उन्होंने अपने सीमित साधनों से यथासंभव ग्रंथ सजाया है। इसके मुद्रण में केरल की सरलता मिलेगी न कि राजधानी की तड़क-भड़क। मगर सुदामा के तंडुल के कंकड को भी स्नेही द्वारिकाधीश ने प्रेम से स्वीकार किया था।

विषु संक्रम 1984 — एन. ई. विश्वनाथ अय्यर
14-4-1984
अनुपम, कालेज लेन, त्रिवेंद्रम

उठता चाँद डूबता सूरज

उठता चाँद डूबता सूरज

केरल के विश्वविद्यालयों में कोचिन विश्व-विद्यालय को एक खास बात पर नाज़ है कि उसका प्रशासकीय कार्यालय कोचिन के स्वर्गीय शासकों के राजमहल में बसा है। *महल में रहने की क़िस्मत जिसे नहीं बदा हो वह कम-से-कम कर्मचारी के रूप में इस महल में रहने का गौरव अनुभव कर सकता है। इस महल को मलयालम में 'कनककुन्नु' (सोने का टीला) महल कहते हैं तो अंग्रेज़ी के विद्वान शुद्ध भौगोलिक नाम 'हिल पैलेस' से इसे अभिहित करते हैं। समूचे कोचिन का यह लोकप्रिय गौरव स्तंभ पिछले कुछ वर्षों से खंडहर-सा, भुतहा-सा सूना पड़ा था। अब वह विद्यापीठ के रूप में विराज रहा है। यह सचमुच टीले का महल है। आम सडक से फाटक के भीतर दाखिल होकर आपको चक्करदार रास्ते से मोटर चलाते हुए महल के सामने पहुँचना पडता है। पैदल यात्री सीढ़ियों पर सीढियाँ चढते हाँफते यहाँ पहुँचते हैं। महल आधुनिक भवनों की तरह लिफ्ट-चालित सतमंजिला मकान नहीं है। दो ही मंजिल हैं, तिसपर खपरैल। फिर भी ऊपरी मंजिल के बरामदों पर खडे होकर आप चारों तरफ़ जब दृष्टिपात करते हैं तब शस्यश्यामला कोमल पृथ्वी का अनन्त हरित विस्तार देखकर मंत्रमुग्ध हो जाते हैं। दूर समुद्र की शीतलता और लता-तरुगण की वत्सलता लिये मंद पवन अपने कर-स्पर्श से आपके उत्तेजित चित्त को शांतिमय बना देता है। वह कहता है—"इतने उतावले इतने खीझे क्यों दीखते हो? अपना दंभ दिखाने तुम बडे से बडा आलीशान महल चाहे क्यों न बना लो, मगर उस चूनापत्थर में—संगमरमर में वह आनन्द कहाँ जो खुले पवन में खिली प्रकृति में अनुभव होता है?"

---

* अब वह फिर से विभागों के कब्ज़े में आ गया है।

विश्वविद्यालय-संबन्धी कार्य के सिलसिले में बारंबार जाते हुए मुझे प्रत्येक दिन प्रकृति की यह छटा बडी मोहक लगा करती है। तथापि उस दिन मैं ने जो खास दृश्य देखा वह कभी भुलाये नहीं भूलता। बैठक में चर्चा बढ़ती-बढ़ती करीब संध्याकाल तक बढ गई। बाहर बरामदे पर आकर देखा—पश्चिमी दिशा में अरुण सूर्य गद्गद हो बिदा ले रहा था। पूरब में नव किशोर की स्फूर्ति लिये कोमल चंद्र नभतल की ओर झिझक कर बढ़ रहा था। उसे पूरा भरोसा शायद अभी तक नहीं रहा कि भानुप्रताप अब जल्दी वापस नहीं आएगा। यह डूबता सूरज और उठता चांद हर मास के शुक्ल पक्ष में—खासकर पूनम के दिन सारे दर्शकों को मोहित करते हैं—सोचने को विवश करते हैं—कुछ-कुछ दार्शनिक बना देते हैं।

यह सूरज और चाँद की आँख-मिचौनी कभी खतम नहीं होती। किन्तु इतिहास में सूरज जब एक बार डूब जाते हैं तब वे फिर से नहीं उठते। उनसे समता रखनेवाले दूसरे उदय चाहे हों, फिर भी प्रथम सूरज की समानता नहीं रख सकते। इस राजमहल की ही बात लीजिए। यहाँ कोच्चिन रियासत के सर्वेसर्वा कर्तुं-मकर्तुं-मन्यथा कर्त्तुं शक्त महाराजागण गंभीरता से विराजते थे। प्रजाजन प्रत्येक शासक के गुण-गणों का गान करते थे। राजा की वर्षगाँठ के दिन जनता दावत मनाती थी। कवि मंगल अभिनन्दन के छन्द बरसाते थे। राजमहल के दरबार में बीन व मृदंग बजे होंगे। नर्तकी के पाँवों की रुनझुन बजी होगी। असावरी और कान्हड़ा के आलाप पर कला-प्रेमी श्रोता राजकुमारों-राजकुमारियों के मुँह से 'वाह-वाह' निकली होगी मगर अब पंतजी की 'नौकाविहार' के नदी-तट की तरह नीरव स्तब्ध महल सबकी सहानुभूति का पात्र बना हुआ है।

महल के इस वैभवशाली अतीत की शेष स्मृतियाँ मन में जमी हुई थीं कि प्रसाद के 'आँसू' की वे पंक्तियाँ दुहराने की नौबत आ गई—"जो घनीभूत पीडा थी, मस्तक में स्मृति सी छाई, दुर्दिन में आँसू बनकर, वह आज बरसने आई।" वह दुर्दिन अभी थोडे दिन पहले आया था। स्वर्गीय कोचिन नरेशों के महलों में एकत्रित प्राचीन कला-कृतियों का

नीलाम घोषित हुआ था। संग्रह में कुछ पुस्तकें भी थीं। उन्हें देखने केलिए हम—विश्वविद्यालय के पुस्तकालय विभाग के अध्यक्ष जॉर्ज और मैं-गये थे। संयोग से नीलाम सरकारी आदेश के कारण रुका था। हमने उन कलाकृतियों को देखा। महल का एक बुजुर्ग नौकर प्रत्येक क्रयवस्तु का परिचय देता जा रहा था। वह अपने रुँधते गले को साफ़ करता बोल रहा था। अनेक लोगों को विस्तार से बताता-बताता शायद वह रागहीन भी बनता जा रहा था।

वैसे केरल की शान गजराज हैं। मैसूर के हाथियों से भी अधिक गंभीर और प्रौढ़ केरलीय गजों पर कोचिन के शासकों को गर्व रहा है। यहाँ के बडे मंदिरों के जलसों-उत्सवों में, जुलूस और झाँकी में गज का योग अनिवार्य है। भगवान की मूर्ति को सर पर उठाये, विनय से पर शान से खडे गजराज और उनके संगी-हाथी सोने के मुख-पट्ट से अधिक सुशोभित होते हैं। खास कर रात के अंधेरे में मशालों की रोशनी जब इन दंतियों के शुभ्र दाँत और मुख-पट्ट पर पड़ती है तब वह शोभा कुछ और ही होती है। ये गजवीर राजाओं के बडे प्यारे होते थे। उस प्रिय सह्यपुत्र का स्मरण दिलानेवाला एक आदमकद लकड़ी का हाथी इन कलाकृतियों के जुलूस का नेता बना बैठा है। देवता की मूर्ति को सिर पर चढ़ा लेने केलिए अगाड़ी के पाँव नीचे झुकाये बैठा वह गज अपनी अद्भुत कला के कारण ऐसा प्यारा लगता है मानों अभी बोल उठेगा। उसके नयन सजीव हैं। काली लकड़ी के बने उस हाथी के बदन पर लकडी के ही रस्से बने हैं; लकड़ी के सांकल बँधे हैं। बाँधने केलिए खुले अलग से लकड़ी के साँकल रखे हैं। असली गजदंत दाँत की जगह रखे हैं। अलग-अलग लकडी के टुकड़ों से इन गोलों का निर्माण अजीब कलाकारिता का नमूना है। महल का सेवक बता रहा था कि ट्रिचूर के एक बढई और बढ़इन ने यह बनाया था। उन अज्ञातनामा कलावन्तों की कलामय प्रतिभा, छेनी की तेज़ी और सूझबूझ हमें पुलकित किये देती है। साथ ही गजदंतों के व्यापारिक लाभ के पीछे हाल ही में धोखे से हाथियों को मारनेवाले कुछ मानवाकार दानवों का स्मरण भी आता है।

ताजमहल के संगमरमर के बेलबूटों पर तो लोग निछावर हो जाते हैं। मगर दक्षिण के मंदिरों के मंडपों में शिला की मूर्तियाँ देखने पर इनकी आँखें खुलती हैं। यदि ये केरल की दारुकला एक बार देख लें तो इनके आश्चर्य की सीमा न रहे। केरल के मंदिरों का निर्माण लकड़ी की अजीब कला का प्रमाण है। तराशे, खुदे, चित्रभरे, गोल, चिकने, चमकीले खंभे और वितान दर्शकों को दिग्भ्रमित सा कर देते हैं। शीशम या सागौन की लकडी में—कहीं-कहीं शीशम के समान और पुकार की लकड़ी में भी—छेनी चलाते-चलाते गीतिकाव्य रचने की क्षमता इन कलावन्तों में है। आजकल सिमेंट और लोहे के ढाँचे में ढले दरवाज़े, खिडकियाँ और बँगले देखते-देखते नयनों को यांत्रिकता का रेगिस्तान ही नजर आता है। व्यक्तियों के हाथ की कला का कमाल देखने के लिए लकडी की कलाओं का अवलोकन करना होगा। इस दारुकला के कई नमूने उस संग्रह में देखने को मिले। फिर भी दो नमूने अविस्मरणीय रहे। नीचे गोलाकार में समाप्त होते दो चौरस स्टैंड हैं जिनमें पच्चीकारिता की करामात दिखानेवाली जालियाँ और बेलबूटे लकडी में ही बने हैं। दोनों स्टैंडों पर हाथी-दाँत की एक-एक लक्ष्मी की मूर्ति। दोनों तरफ़ एक-एक लंबा टेढा हाथी-दाँत यों लगा है कि दोनों मिलकर एक आर्च बना देते हैं। इन हाथी-दाँतों को पुष्पहार से पिरोया है। फूलों के हार में पत्ते भी हैं, फूल भी; सब शीशम के। हर पत्ता, हर फूल अलग-अलग दिखाया गया है। इनके ऊपर लकड़ी का अत्यंत सुन्दर गरुडराज है। इस अतिशय सुन्दर रचना के पीछे कलावन्त श्री की हुई साधना का अन्दाज़ अब कैसे लगायें ? उस अज्ञात-नामा की रचना अब किसी शौकीन कलाप्रेमी करोड़पति के यहाँ या संग्रहालय के संग्रह में अपना भी स्थान पाएगी।

दूसरी महत्वपूर्ण वस्तु जालीदार और अधिक बेलबूटों का दूसरा स्टैंड हैं। उससे सटी और एक मेज़ देखकर उसकी कला के चमत्कार से हम प्रभावित अवश्य होते हैं। किन्तु उसमें जो छपा प्रमाण-पत्र या सनद चिपका हुआ है उसे पढते-पढते हमारे सामसे इतिहास के पृष्ठ अपने आप पलटते जाते हैं। सुभद्राकुमारी चौहान की "झाँसी की

रानी" कविता में पढ़ा था— अँग्रेज़ों ने बड़ी बेरहमी से राजाओं के साफा-खिलअत बेचे थे। रानियों के गहने सरेआम नीलाम होते थे। यहाँ सनद का नीलाम होनेवाला था। इतिहास की निर्दयता! यहाँ जो सनद प्रदर्शित है, वह कोचिन शासक को सन् 1921 में इंगलैंड के सम्राट की तरफ़ से भारत के वाइसराय लार्ड चेम्सफोर्ड का दिया है। उसका भाव बड़ा महत्वपूर्ण है। तब तक कोचिन के शासक अँग्रेज़ों की नज़र में सिर्फ 'राजा' कहलाने के अधिकारी थे। ब्रिटिश शासकों ने उन्हें 'राजा' ही माना था। इस सनद से वाइसराय ने उन्हें महाराजा की उपाधि दी है। 'महाराजा' की उपाधि से तोप की सलामी की संख्या में और वाइसराय के दरबार की बैठक की कतार में कुछ उन्नति होती थी। यही लाभ था।

कोचिन रियासत भी प्रारंभ में बहुत ही छोटी थी। सन् 1500 ई० के बाद ही इसका ठोस ऐतिहासिक उल्लेख मिलता है। इसी समय पुर्तगालियों के साथ मित्रता स्थापित कर कोचिन शासकों ने अपनी ताकत बढाना शुरू किया। आसपास के स्थानों पर उन्होंने अधिकार जमा लिया। उन दिनों केरल में अनेक छोटे राजा और राज्य थे। कालिकट के सामूतिरि केरल के छोटे राज्यों के अधीश जैसे थे। उनकी मित्रता के बल पर कोचिन के समीपवासी कई नरेशों ने कोचिन शासकों से संघर्ष किया। पर राजनीतिक और युद्धनीतिक शतरंज के तख्ते पलटते रहे। पुर्तगालियों की ज़बरदस्त फौज की ताकत से कोचिन की सत्ता बढी। इसकी महँगी कीमत भी वे शासक चुकाते रहे। बाद में पुर्तगाली जब कालिकट के सामूतिरि के हितैषी निकले तब डच कंपनी से कोचिन ने गठबंधन किया। यहाँ तक कि डच कंपनी की फौज ने एक कोचिन-नरेश को जान से मारकर अपने आज्ञाकारी दूसरे राजकुमार को गद्दी पर बिठाया। शासकों की स्वतंत्र सत्ता कम हो गई। जब पडोसी ट्रावंकोर के शासक मार्त्तांडवर्मा बडे सशक्त राजा प्रमाणित हुए तब डच कंपनी ने उनका भी नैतिक समर्थन किया। कोचिन शासकों की महत्वाकांक्षा अब बढ़ नहीं सकी। उन्हें अधिक सशक्त ट्रावंकोर-नरेश से संधि करके मित्रता स्थापित करनी

पड़ी। सन् 1814 ई० में डच कंपनी ने अपने सारे भारतीय उपनिवेशों के अधिकार पैरिस के समझौते के अनुसार अँग्रेजी ईस्ट-इंडिया कंपनी को दे दिये। अब अँग्रेज़ी ईस्ट इंडिया कंपनी के अधिकारीगण कोचिन के शासन की बागडोर संभालने लगे।

कोचिन के प्रजाजन अपने राजा का बड़ा सम्मान करते थे। देश में शान्ति थी। राजा का ही हुक्म चलता था। फिर भी परोक्ष रूप से अँग्रेज़ शासक ही सारा शासन चलाता था। कोचिन शासक कोई भी महत्वपूर्ण आदेश अंग्रेज़ अधिकारियों से सुझाव लिये बिना नहीं निकाल सकते थे। छोटा-सा राज्य था, सम्पत्ति भी कम थी। इसलिए ट्रावंकोर व कोचिन की बागडोर प्रायः एक ही अंग्रेज़ रेसिडेंट सँभालते थे। यदि कोई अंग्रेज़ों के अत्याचार के विरुद्ध उँगली उठाते तो उन्हें राजा के भी क्रोध का पात्र बनाकर छोडते थे। हर साल लाखों रुपयों का कर अंग्रेज़ सरकार को देना, उनकी नैतिक दासता स्वीकार करना और उनका आदेश उपदेश कदम-कदम पर लेना। बड़ी दुर्दशा थी। किन्तु लाचारी भी थी। जो ज़रा भी खीझ दिखाते उन्हें कंपनी सरकार नीचा दिखाने का हर उपाय करती। यही कारण है कि आधुनिक कोचिन के निर्माता कहलाये 'शक्तन तंपुरान' अंग्रेजों की आँख की किरकिरी बने रहे। इस राज्य के शासकों की परंपरा में एकाध सज्जन ही अपनी सत्ता दिखा सके थे। शेष राजा सरलता और शांतिप्रियता के कारण दीवानों के उपदेशानुसार यथासंभव जनता की भलाई करते रहे। अंग्रेज़ सरकार को वे कभी नाखुश नहीं रखते थे। इसका अपवाद भी था। प्रथम विश्वयुद्ध के दिनों में छोटी-सी बातों में भी ज़बरदस्त दखल देने के विरोध में उन दिनों के कोचिन शासक ने अपने राज्याधिकार से त्यागपत्र दिया। इसी भारतीयता का दूसरा स्वरूप कोचिन शासक परंपरा के अन्तिम शासक श्री परीक्षित तंपुरान में मिलता है। इसी शासक ने स्वतंत्र भारत में सर्वप्रथम अपना राज्य ट्रावंकोर के साथ मिलाने की योजना स्वीकार करके अन्य देशी नरेशों को रास्ता दिखाया। उन्होंने अनुभव किया कि भारत की स्वतंत्रता के सामने और सब बातें कम महत्व की हैं। अपनी अपार विद्वत्ता के

कारण परीक्षित कहलाये 'तंपुरान' (राजा) के साथ कोचिन राज्य का स्वतंत्र शासन समाप्त हो गया। उन्हीं के स्वर्गवास के बाद कनकक्कुन्नु महल तिरस्कृत-सा हो गया। इसी की चर्चा निवन्ध के प्रारंभ में की है।

हाथीदाँत के बेलबूटे वनाने और लकडी में हाथीदाँत के फूल जड़ने की कला में मैसूर एवं केरल के कलाकार कुशल हैं। यह कुशलता इस संग्रह की अनेक चीज़ों में दिखाई देती है। फिर भी एक घुमावदार कुर्सी में इस कला का कमाल खासी चीज़ है। इस कुरसी की आज की सूनी हालत पर तरस आती है। किसी ज़माने में यह अपनी गोद में बैठे प्रभु के वैभव पर कितनी अकडी होगी। उस प्रभु ने भी इस कुरसी से अपने सनातन संवन्ध की—न जाने कैसी—कल्पना की होगी। मगर आखिर आदमी को कुरसी से अलग होना ही पडा। अचेतन लकड़ी स्थायी रही, चेतन को उठ जाना पड़ा।

आधुनिक काल के प्रारंभ तक-विजली का साम्राज्य वसने के पहले तक—हर राजा व प्रभु के महल में बिल्लौर के चित्र-विचित्र झाड़-फ़ानूसों का समाँ रहता था। संभवत: मुगल दरबार के युग के पहले ही यह चालू था। काँच के खुले बत्तीदान और हर बत्तीदान के नीचे बिल्लौर के टुकड़ों की झालर। दिन में भी जव हवा चलती तब ये विल्लौर के टुकडे परस्पर मिलते और छू-पकड़ खेलते सरगम निकालते। धरती पर खड़ा सुन्दर मानव रूप बिल्लौर में प्रतिबिंबित होकर छोटे शीश-महल की झाँकी दिखाता। जब पूरा दीपक जलता तब स्वच्छ दीप-कांति के साथ विविध वर्णों की छटा भी विराजती। उस मंगलमय ज्योति में राजदरबार में गायन-नृत्य चलता। चारों तरफ़ दरबारी राजमहल की रूपसियाँ और मध्य में शासक इसका आनन्द लेते। आज ये बिल्लौरों के झाड़-फानूस फीके होकर उदास मुँह लिए लटक रहे हैं। दूसरे वडे कक्ष में दरबारियों की मैली-धूल भरी बैठकें सचमुच अचेतन पड़ी हुई हैं। जब चेतन मानव उठ जाता है तब चारों तरफ की लकडी व लोहा-पत्थर किसी काम का नहीं रहता। उन्हें कोई नहीं पूछता।

यहाँ रखे बहुत बडे दर्पण पहले महलों के शृंगार कक्षों में रहे होंगे। अतिथि भवनों की शोभा उन्होंने बढ़ाई होगी। अनेकों लोगों ने इन दर्पणों में अपनी शोभा पाकर खुशी पाई होगी। फिर भी कोचिन राजमहल बडा संयत जीवन बिताता था। यहाँ कभी मुगलों के राजमहल की सी नग्न विलासिता नहीं थी। केशवदास की लंका की तरह यहाँ कोई कोककारिका पढाती नहीं थी। सरल और भक्त शासक जोकि प्रायः वृद्धावस्था में ही गद्दी पर वैठते थे इन दर्पणों को अपने मित्र की अपेक्षा शत्रु के रूप में शायद देखते रहे होंगे। बुढ़ापे में दर्पण बडा मनहूस लगता जो है। कोचिन नरेशों पर भगवान धन्वन्तरि की कृपा बहुत बड़ी रहती थी। मातृसत्ता थी। मामा और उनके भाइयों के बाद भानजा अधिकारी रहता था। शासक के पुत्र केवल राजपुत्र का गौरव पाते थे। राजाओं का पेंशन समाप्त करने की भारत सरकार की नीति से सचमुच कष्ट भुगतनेवाले राजमहलों में कोचिन का भी शामिल है। यह असमंजस कि न दुख के कारण चुप रहा जा सकता है, न आत्मगौरव के कारण कुछ बताया भी जा सकता है। धनाभाव और परस्पर मतभेद के ही कारण प्राचीन शासकों के इन शेष चिह्नों को किसी भवन में सुरक्षित रखने के बजाय नीलाम करने की बात तय हुई थी। समय का जौहरी क्या-क्या खेल खेलता है! चुपचाप देखता रहना पड़ता है।

उस वैभवमय अतीत का स्मृतिचिह्न बने हुए कई छोटे-बडे महल पुरानी ही दशा में बिना सुधरे खडे हैं। कुछ तो बिना मरम्मत के धराशायी तक होना चाहते हैं। यदि अपवाद है तो उन शासकों के कुलदेवता पूर्णत्रयीश का मंदिर। यह वैष्णव मंदिर विशाल प्रांगण का है। भगवान नारायण के इस स्वच्छ मन्दिर में भक्त जन प्रतिदिन दर्शनार्थ आते हैं। हर साल पर्व उत्सव चलता है। फिर भी बालाजी, मदुरै या पलनि की भीड़ या पुण्य-प्रसाद का व्यापार यहाँ नहीं चलता। इस मंदिर के उत्सव में केरल की प्राचीन कलाओं की झाँकी मिलती है। गजवीरों का जुलूस होता है। गायन वादन होता है, भक्त जनता की युगानुकूल रुचि भी प्रतिबिम्बित होती है।

प्राचीन कोचिन-नरेशों के जन्मदिन भूल गये। उनका शासन हमेशा केलिए समाप्त हो गया। उनके नीतिनियमों ने उनकी आर्थिक स्थिति को डावाँडोल बना दिया है। फिर भी उनके उपनाम 'तंपुरान' और वे कई राजमहल वर्षों तक उनका स्मरण स्थायी बनाये रखेंगे। जनता को धन्यवाद, अब भी हर साल ओणम के त्योहार के प्रारंभिक हस्तनक्षत्र के दिन यहाँ अत्तच्चमयम का पर्व मनाया जाता है। इसका स्रोत ज़रा विचित्र एवं मनोरंजक है। पहले केरल के सभी शासक हस्तनक्षत्र के दिन "तृक्काक्करा" में (यहाँ आजकल कोचिन विश्वविद्यालय का अध्ययन विभाग है) पहुँचते और कोचिन नरेश भी अपने महल से तृक्काक्करा जाकर इस महोत्सव में सम्मिलित होते थे। किसी वर्ष राजमहल से निकले राजा किसी कारणवश तृक्काक्करा पहुँच नहीं सके। दूसरे साल से तृक्काक्करा की यात्रा बन्द हुई। लेकिन हस्त के दिन सज-धजकर महल से निकलकर राजा अपनी राजधानी नगर की परिक्रमा करके पुन: महल में ही लौटते थे। यह वार्षिक उत्सव-सा हो गया। अब राजा के अभाव में जनता ने इसे राष्ट्रीय पर्व मान लिया है। प्राचीन कलाओं की झाँकी, प्रदर्शनी, जुलूस आदि की व्यवस्था होती है। मंत्रीगण एवं अन्य जन-प्रतिनिधि भाग लेते हैं। औपचारिकता बढती जा रही है। फिर भी केरल अपने तिरुवोणम को नहीं भूल सकता। तिरुवोणम के साथ अत्तच्चमयम को भी स्मृति रहेगी। अतीत के सपनों की खुमारी में रहना प्रतिक्रियावादी अलसता माना जाएगा। फिर भी इस अतीत के सक्रिय गौरवमय पक्ष के स्मरण से हमें नई प्रेरणा मिलती है।



झपकियों के बीच

पूज्य बापू ने कहा था—सच्चे भारत को देखने केलिए गाँवों में चलो। मुझे लगा है कि आज़ाद हिन्दुस्तान को जनता का हाल देखना हो तो भारतीय रेलवे के दूसरे दर्जे के जनरल डिब्बे में लम्बा सफर करना चाहिए। यह सौभाग्य पाने पर आप अज्ञातनामा रहते हुए अनेक चेहरे देख सकते हैं, अनेक भाषाएँ सुन सकते हैं। उदाहरणार्थ उत्तर भारत के एक बहुत बडे रेलवे जंकशन की बात लीजिए। यह शहर बडे कारखानों के कारण समूचे हिन्दुस्तान की औद्योगिक सभ्यता का प्रतिनिधि है। अतएव प्लैटफार्म पर मैं मलयालम, तमिल, तेलुगु, मराठी, पंजाबी, अंग्रेज़ी और जाने कौन-कौन सी भाषाएँ, बोलियाँ सुनता हूँ। समाज के सभी स्तरों के लोग यात्री बनकर हाज़िर हैं। धनियों की शान-शौकत व रोब-दाब का वर्णन क्या करना है? वह विदित ही है। मेरी नज़र तो भारत के प्रधान मंत्री तक को चुनने का अधिकार प्रजातंत्र के सिद्धान्त के अनुसार रखनेवाले, मगर साथ ही रोटी केलिए तरसनेवाले गरीब यात्रियों पर जाती है। ये ही खज़ाना भरते हैं; पर इन्हीं का तिरस्कार होता है। फिर भी इनके चेहरे पर जितना हार्दिक आनन्द और खुली बातचीत के अनुभव होते हैं, उतना धनी से धनी लोगों के संग में महसूस नहीं होता।

मैले चिथडे पहने गरीब मज़दूर स्त्री-पुरुषों की एक टोली अपने गाँव लौट रही है। उनके पास सामान के नाम पर एकाध झोला-गठरी है। इस झुंड में दो-तीन जवान पुरुष जरा बने-ठने हैं। बढ़ाये हुए केश, रंगीन लुंगी और बुशशर्ट पहने हैं। सो इन छैलों से खिलखिलाकर बातचीत करने की होड़ दल की युवतियों में लगी है। शायद ये जवान भी अपने को धर्मेन्द्र या राजेश खन्ना से कम नहीं समझते हों।

बच्चों केलिए दूध-पानी की तलाश में एक सिरे से दूसरे सिरे तक का चक्कर काटने वाले पितागण एक नियमित दृश्य हैं। अपने प्रिय बच्चों को सुखी और स्वस्थ रखने में माता-पिता का कष्ट एवं सहनशीलता रेलयात्रा में खूब पाई जाती है। भीड-भरी गाडी में भी बच्चे केलिए पालने का प्रवन्ध और थरमस साथ लेने से दूध वगैरह का इन्तज़ाम करके बिलकुल घर का सा व्यवहार करने वाले व्यवहार-कुशल व अनुभवी माता-पिता भी इन यात्रियों के बीच बडी संख्या में मिलते हैं। पेट के कारण गाँव से सैकडों मील दूर नौकरी करनेवाले इन परिवारों की जिन्दगी का काफी हिस्सा रेल के डिब्बों में जो गुजरता है। जीवन नाटक मंच के फेड-इन और फेड-आउट वाले दृश्य—अर्थात् नौव्याहे दम्पती से लेकर बुजुर्ग दम्पती तक अपनी प्रिय ट्रेन की प्रतीक्षा में खडे हैं।

गाडी शंखनाद करती प्लेटफार्म पर जब पहुँचती है तब यदि आप भी स्वयं यात्री हैं तो व्यष्टि की जगह समष्टि में समा जाते हैं। वीतराग हो दूर से देखने पर लोगों का उतावलापन खूब नज़र आएगा।

कुलियों के सिर पर हलकी अटैची लादकर अकड़ते चलनेवाले दस मिनट के पूंजीपति—मानों किसी ज्योतिषी से संसार की समाप्ति का भविष्य सुनकर भयभीत हो घर की सारी स्थावर सामग्री साथ लेकर रामेश्वरम व कन्याकुमारी के दर्शनार्थ निकले उत्तर-भारत के परिवार-भीषण क्रन्दन से अपनी माता के प्रति सारे संसार की सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि खींचनेवाली सुसंतानें—नये गहनों और भडकीली साडियों से अपनी खूबसूरती को और भी रंगीन बनाकर अभागे यात्रियों को नयनसुख और उनके मन में "आह! डाह" उत्पन्न करती नववधुएँ एवं उनके साथ चिपके हुए श्रीमान लोग—ऐसी विविध दृश्यावली देखते-देखते हम भी स्वयं-चालित कठघडों में अपना आश्रय ग्रहण करते हैं। १

पोर्टर की कृपा से मुझे एक जनता शायिका मिली है जो असल में शायिका न होकर हल्के सामान रखने की जगह है, पर शायिका का

काम देती है। पोर्टर समझता है—कुछ आदमी सामान से भी हल्क होते हैं। शायिका-शब्द गढ़नेवाले हिन्दी विद्वान की सूक्ष्मदर्शिता इस जनता-शायिका से प्रमाणित है। इस पर लेटा जा सकता है, पर सोना असंभव-सा है, यद्यपि इस पर भी सोने की कला में माहिर होते हैं। सुना है कि साहसी नेपोलियन घोड़े पर बैठे-बैठे सो लेते थे। ये रेलयात्री शायिका पर तो क्या, साधारण बेंच पर भी बैठे-बैठे ही निद्रानन्द ले लेते हैं। कभी-कभी बगल में बैठे हुए आपका कंधा, पीठ या सिर उनका अवरोध बनता है। यदि आप भी वही निद्रा-व्यवहार करें तो दोनों को शिकायत न रहे। साथ ही दर्शकों का कुछ-कुछ मनोरंजन हो जाए।

मैं इस दिशा में नया हूँ और पोर्टर महाराज ने आश्वासन दिया है कि दो-चार स्टेशनों में सारी भीड़ उतर जायेगी और उसके बाद पूरा डिब्बा आपके कब्जे में रहेगा, आप चाहें तो फुटबाल खेलें। मगर देखता क्या हूँ—हर स्टेशन पर डिब्बे से जितने उतरते हैं उससे कई गुना चढ़ते हैं। चढ़ने की हरबार इतनी धक्का-मुक्की, शोरगुल और भीतर बाहरवालों का शास्त्रार्थ कि डर लगता है, कहीं खून-खराबा न हो जाय। लेकिन थोडी देर में समन्वयवाद की विजय होती है। इसका यह मतलब नहीं कि बैठे लोग अपना आसन छोडकर नयों को विशेष जगह देते हैं। असल में वह जगह बनाने और अतिरिक्त जगह बनने की प्रक्रिया "जादू" सी होती है; मायामय, अनुभवैकवेद्य है।

मैं भी कुछ स्वार्थी हूँ अपने स्वास्थ्य की चिन्ता की वजह से। हाथ-पाँव थोडा पसारे लेटना है। रात भर उकड़ूँ बैठना पडे तो इसका बहुत बुरा असर पडेगा। अपनी शायिका पर आँखें बन्द किए लेटा हूँ। बीच-बीच में चारों तरफ़ से नवागन्तुकों के आंकडे और परिचय केलिए आँखें अपने आप खुलती हैं; शीघ्र ही—उनकी नजर पडने का अहसास पाते ही स्वयं बन्द हो जाती हैं। कान कुछ-कुछ सुनते हैं। बिहारी के कहे अनुसार 'काननु सेवत नैन'। कानों और नयनों का—परस्पर समझौता और वार्तालाप हो जाता है और मेरे मन-मुकुर में कुछ चित्र उभर आते हैं।

वगल की शायिका पर एक जवान विराजमान हैं । दाढी मूँछ और केश-राशि से संत, मुखाकृति से लडाकू । वे निम्न स्तर के (नीचे बैठे) अपने रिश्तेदारों को उपदेश-माला दे रहे हैं—"तुम लोग आराम से लेटे रहो । इन नवागतों की तकलीफ़ पर रहम मत करो । हमने तीन महीने के नन्हें वच्चे को लेकर इस गाडी में सफ़र किया है । तब ये लोग वच्चे पर रहम कर जच्चा-वच्चा को बैठने की जगह नहीं देते थे । मांगने पर डाँटते थे ।" वातचीत तमिल में है । इसलिए खडे लोग, जो शायद अन्य भाषा-भाषी हैं—समझ नहीं पाते । वरना जवानी महाभारत छिड़ सकता है । इस सज्जन ने रेलवे यात्रा का जीवन दर्शन अत्यंत स्पष्ट किया है । असल में अब भी एक औरत रोते वच्चे को गोद में लिए घंटों से खडी है । उसने भी टिकट लिया है । पर वह कुछ गरीब व सरल है । न आकर्षक रूप ही है । शायद इसीलिए किसी की सहानुभूति नहीं जगी । खासकर माताओं की । अपनी सारी तकलीफ़ों के वावजूद ऊधमी बच्चे की लात-पीट सहती और उसे मीठी वातों से हँसाने वाली उस माँ के प्रति मेरे मन में वडी श्रद्धा हुई । यात्रियों, खासकर बहनों के स्वार्थ पर लज्जा भी ।

हम-सफरों में अधिकांश अकेले-अकेले यात्रा कर रहे हैं । कुछ परिवार भी हैं । अधिकांश अकेले यात्री अपने अहं में लीन नदी के द्वीप बनकर मौन बैठे हैं । कुछ लोग पत्रिका या सस्ते उपन्यास के नीड में छिपने की कोशिश करते हैं । अपना व्यक्तित्व कोई खोलता नहीं । एक का दूसरे पर भरोसा नहीं । डर है, कहीं मित्रता के मूल्यों में अपनी पेटी—पैसे हाथ से गंवाना न पडें । सभ्यता का यह विकास सराहनीय है !

अव परिवार की तरफ ध्यान जाता है । एक तमिल-भाषी ब्राह्मण परिवार है । स्त्रियाँ ज़्यादा हैं । दो जवान पुरुष हैं— शेष लडके-बच्चे । स्त्रियों में एक युवती है जिसकी कलाई पर पीला धागा बांधा है, युवक की कलाई पर भी । उनके पास मखमली घास की चटाई है । ये निशान बतलाते हैं कि विवाह के बाद लडकी को लेकर अपने घर जा रहे हैं ।

हमारे देश की पारिवारिक व्यवस्था का यह चित्र यथोचित रूप से नगरों की उच्छृंखलता का स्मरण कराता है, जहाँ संतानों के ब्याह में माता-पिता का संबन्ध मुश्किल से रहता है। दक्षिण के गाँवों-नगरों से ऐसी अनेक कन्याएँ उत्तर में ब्याही जाती हैं। दक्षिण के गाँवों की ये अलबेली बहुएँ उत्तर भारत के बडे-बडे नगरों में स्वतंत्र आनन्दमय जीवन बिताने की कल्पना करती हैं। उन्हें क्या पता कि उत्तर के महानगरों में निम्न मध्य श्रेणी के लोग कैसे छोटे-छोटे पिंजडानुमा फ्लैटों में रहते हैं और उनकी जिन्दगी भी कितनी फ्लैट (सपाट) होती है। वहाँ सब कुछ मशीनी रहता है, जिन्दगी व प्रेम भी। विवाहित जीवन जरूर चलता है और अतएव बच्चे भी होते हैं। मगर अचरज इस बात पर होता है कि ऐसे नगर के जीवन के आदी लोग अपने पुराने-खुले सुन्दर गाँवों में बसना नहीं चाहते। उनकी सांस वहाँ घुटती है।

इस डिब्बे में दो-तीन तेलुगु-भाषी परिवार हैं—एक परिवार रामेश्वरम की यात्रा पर है और दो परिवार दक्षिण के देवता बालाजी के दर्शन करने तिरुपति जा रहे हैं। एक परिवार में भाई-भाभी के साथ एक नवविवाहित वधू और उसके पति महाशय हैं। कन्या के माता-पिता ने मनौती मानी होगी कि ब्याह के बाद बालाजी के दर्शन करा देंगे। आन्ध्र व तमिलनाड के अधिकांश माता-पिता अपनी कन्याओं के ब्याह के लिए ऐसी शर्त भगवान के सामने रखते हैं। बहू सुनहली किनारी के कपडों में है, मगर आँखों में आंसुओं की नमी है; चेहरे पर उदासी का कुहरा। मेहंदी पैरों में है, गालों पर भी। गाँव की सी लगती है पर आधुनिकता भी झलकती है। शिक्षित सी है। निदान नये नागरिक फिल्मीस्टाइल के प्रेम-प्रकटन और उल्लास की कल्पना भी इसके मन में शायद रही हो। उसके पति महाशय कुछ उजड्ड से हैं, डिब्बे में घुसते ही मौका पाकर शायिका की तरफ़ उछल पडे हैं, चप्पल सहित लेटे खुर्राटे भरने लगे हैं। हृष्ट-पुष्ट, पर बिलकुल अरोमांटिक से हैं। अपनी इस नयी स्थिति पर ही शायद बहू को दुःख होता हो। शायद ऐसी कल्पना निराधार हो। कौन जाने? इन विभिन्न प्रवृत्तियों को जीवन में आगे समझौता करना ही पडेगा।

जो झूठे 'अहं' को त्यागकर समझौता कर लेते हैं उनका जीवन समस्या में नहीं उलझता।

विभिन्न आयु-स्तरों के सदस्यों का दूसरा परिवार बडा व्यावहारिक है। घंटों तक खडे-खडे इन्तज़ार के बाद आसनस्थ होने का सौभाग्य पाये हुए उन्होंने संतोष की साँस ली है; अब पूरे ज़ोर से बैठकों पर कब्जा जमाया है। यात्रा का ऐसा अनुभव और सहयात्रियों से ऐसी ममता इनमें है कि लगता है, रेल का डिब्बा इनके लिए दूसरा घर है। ये इसी खुशी से जिन्दगी भर रेल-यात्रा शायद करेंगे। छोटे बडे बरतन-भांडे साथ लिए दिनों तक किफायत, पर खुशी से सैर की साधना कम कष्ट-साध्य नहीं है। यह परिवार भी तिरुपति जा रहा है।

नागरिकता और वैज्ञानिक तर्कवाद के प्रेमी लोग इन तीर्थयात्रियों के व्यवहार को निरर्थक व मूर्खतापूर्ण मानते होंगे। मगर आस्तिक और आस्थावान लोग भगवान बालाजी की अनन्त शक्ति पर दृढ विश्वास रखते हैं। बालाजी सारे दुःखों को दूर करनेवाले हैं। उनकी कृपा से भक्तों की सारी समस्याएँ सुलझती हैं। गरीब से गरीब और धनी से धनी इस आस्था के कारण सारी कठिनाइयाँ झेलते हुए बालाजी के दर्शनों के लिए पहुँचते हैं। अब भी बारह मील की पद-यात्रा करते हुए लहूलुहान पाँवों से भगवान के चरणों पर दण्डवत करनेवालों की संख्या कम नहीं है। इन तीर्थों को यात्रियों के लिए अधिक सुखदायक बनाने के लिए व्यवस्थापकों का प्रयत्न बढ़ता रहता है, जिससे तीर्थ तीर्थों से बढकर पर्यटक केन्द्र बनते जाते हैं। यहाँ पैसे के लिए सब कुछ सुलभ हो जाता है।

मानव-मन के अरमानों और कमज़ोरियों की थाह कोई भी नहीं पा सका है। तभी तो ऊपर से सुखी दीखने वाले भी मंदिरों तीर्थों का पर्यटन करते हैं। दक्षिण और उत्तर के सभी गृहस्थों के लिए जीवन की एक कामना है, रामेश्वरम् की यात्रा। जन्म-जन्मान्तर के पाप का प्रायश्चित्त इसी तीर्थ के स्नान के रूप में किया जाता है। धर्माचार्य इस तीर्थ का विस्तृत कथा-स्रोत सुनाते हैं।—उत्तर की काशी और

दक्षिण के रामेश्वरम का परस्पर सम्बन्ध जोडा गया है। उत्तरी और दक्षिणी हिन्दू इस सूत्र से बंधे हैं। दक्षिण के भी गृहस्थ निस्संतानता, संतानमृत्यु, दरिद्रता, दुरितादि ताप-व्यथाओं से मुक्ति के लिए इस तीर्थ पर जाते हैं। इन सभी तीर्थों पर आगंतुक भक्तों को लूटनेवाले भी जरूर होते हैं। गाय के थनों पर बैठने वाले मच्छर को दूध में कोई दिलचस्पी नहीं होती। खून पीने पर तुला रहता है। पंडों का धंधा भी तो है।

भगवद्गीता का स्मरण और तीर्थ व धर्म की चर्चा करते हुए मेरे मन में जाने क्यों गीता की स्थितप्रज्ञ की व्याख्या स्मरण आ रही है। बडे तूफान में भी अविचल होकर जलने वाला दीपक स्थितप्रज्ञ का आदर्श है। देखते-देखते ऐसे ही एक युवक मेरे इस डिब्बे में आ गए हैं।

आगतों और आगंतुकों के बीच ड्योढी में दोनों के व्यवहार के औचित्य-अनौचित्य पर बहस बढते-बढते भाषा की शिष्टता की सीमा को लाँघ जाती है; यात्रियों को मुफ्त में हाथापाई का मनोरंजन देखने की नौबत तक आती है। दूसरी ओर नवीनतम पीढी के नागरिक अपनी घुटन तार-स्वर के आक्रोश से प्रकट कर रहे हैं। पारिवारिक समाज में तो सुख-दु:ख के विचारों का आदान-प्रदान मज़े में चलता है। इन सभी परिस्थितियों को चुनौती देते हुए स्थितप्रज्ञ की वाणी गंभीरता से गूँज उठती है—"भाइयो, बहनो!" ये मामूली युवक नहीं हैं, महान पुरुष हैं। नये क्रिस्तमस के सान्टाक्लॉस हैं। इंगलैंड, जापान हांगकांग, दिल्ली, कानपुर और कोयंबत्तूर में बने चमचमाने वाले रेशमी कपड़े, ऊनी चादर और तरह-तरह के सूती वस्त्र भी यात्री भाइयों के प्रति ममता के कारण कम्पनी की तरफ से मामूली कीमत की नीलामी पर देने के लिए पधारे हैं। इन का सिद्धान्त कबीर का है—"कबिरा आप ठगाइए और न ठगिए कोई।" इसी पवित्र जीवन-दर्शन से वस्तुओं का महत्व न समझनेवाले भोले अनजान यात्रियों को मुफ्त में पेन्सिल, रबर और अलपीन की भेंट दिया करते हैं। इस युवक की वाणी से शहद टपकता है। सार्वजनिक मंचों पर चुनाव का भाषण

देनेवाले नेता और अदालत में पैरवी करनेवाले वकील भी इनसे कम ही वचन-चतुर होंगे।

आधे घण्टे की दानलीला के बाद सुयोग्य व्यक्तियों को उचित कम कीमत लेकर माल देने में भी इन्हें संकोच नहीं रहा। मगर ऐसा माल कुछ लोगों को सौंपते-सौंपते जंकशन के पहले का मुख्य स्टेशन आ गया। देखते-देखते ये महान जन-सेवक न जाने किस दरवाज़े से गायब हो गये। कपडे खरीदे हुए यात्रीगण अपनी-अपनी चतुरता पर गर्व करते सहयात्रियों को देखकर मुस्कुराने लगते हैं। दूसरे अभागों के लिए उन्हें सहानुभूति है। पर कोई धूर्त यात्री इसी बीच किसी के खरीदे कपड़े को ज़ोर से खींचता है तो वह 'सरर' करके फट जाता है। यह देख डिब्बे में आटोमेटिक अट्टहास फूटता है। सारे खरीदारों की मुस्कुराहट दीनता में बदलती है। सब अपने-अपने माल को टोकरी-पेटी में छिपाने में लग जाते हैं। सोचते हैं, आखिर इस जिन्दगी के सौदे में जाने-अनजाने कितना देना और लेना पडता है। इस लेन-देन का हिसाब लगाने बैठें तो जीना ही मुश्किल हो जाय। फिर भी यह पुराण वैराग्य मानव मन से नहीं छूटता। आदमी अगली बार धोखा न खाने की बात का वादा करता है।

झपकियों के बीच ऐसे दृश्य कुछ-कुछ देखता मैं अगले स्टेशन पर उतरता हूँ। न शायिका की नींद आई न शांति। पर अपने चारों ओर के जन-जीवन का प्रत्यक्ष पाठ सीखने का—आँखों देखने कानों सुनने का जो सुअवसर मिला वह कितनी शिक्षा दे गया! प्रत्येक यात्रा के बाद मन अधिक आस्तिक-अधिक संतुष्ट होता है भगवान की करुणाशीलता के विषय में अधिक आस्थावान भी।



सागर के नीलकंठ

हिन्दी साहित्य के इतिहास में कई अर्थों में 'आचार्य' शब्द का व्यवहार मिलता है। रीतिकाल के काव्य-लक्षणकार कवियों को इतिहासकारों ने यह उपाधि दी है। ज्ञान के सामान्य क्षेत्र में आचार्य शब्द उस महान व्यक्ति के लिए प्रयुक्त होता है, जो ज्ञान-निधि हो। हमारे सांस्कृतिक जीवन में ऐसे आचार्यों का अत्यन्त श्रेष्ठ योगदान भी हुआ है। इन्हीं आचार्यों के विषय में उपनिषद ने 'आचार्यदेवो भव' का आदेश दिया है। ये आचार्य केवल दर्शन के जटिल क्षेत्र में ही नहीं मिलते, साहित्य तथा विद्यापीठों के क्षेत्र में भी ऐसे आचार्य कभी कभी मिल जाते हैं। ये दुर्लभ अवश्य होते हैं और इनके सत्संग तथा आशीर्वाद प्राप्त करने का सुयोग सचमुच अतिशय सौभाग्य की बात है। इस दृष्टि से यह लेखक अपने को सौभाग्यशाली मानता है क्योंकि ऐसे ही अनुपम और अतिशय गुणों से अन्वित आचार्य के आशीर्वाद उसे प्राप्त हुए हैं। उनके स्मृति चरणों पर श्रद्धा के फूल बारंबार चढाते हुए भी मन नहीं भरता।

वैसे तो सागर एक सूखा-सूखा स्थान रहा है, यद्यपि नगर के निशान के रूप में रेल का जंकशन, पलटन की छावनी, बाज़ार और जिले का मुख्य कार्यालय यहाँ विद्यमान हैं। विशाल सागर की झील नगर के बीच में आँखों को हरियाली देती हुई कभी कभी नौकाविहार का सुअवसर देती है। वह भी अबाध गति से फैलती काई और तटवासी लोगों के धरती-लोभ के कारण संकुचित सी होती आ रही है। इस नगर के यान-साधन और आकर्षण पर्यटकों को निराश कर देते हैं। यह हालत अब सुधरे हुए सागर-नगर की है। करीब बीस वर्ष पहले की हालत इससे कहीं बुरी थी।

प्रथम दर्शन

मुझे अब भी याद आता है। सागर के रेलवे स्टेशन से एक मामूली ताँगे में कई मीलों की वह पहली यात्रा मन में आशा की जगह उपेक्षा या विराग की भावना बढा रही थी। निर्जन सडक से चलते चलते किसी मोड पर एक वंदनवार ने दर्शन दिये और वहीं से कुछ मद्धिम आकार के चार पाँच कांक्रीट भवन और उनके सामने छोटे छोटे बगीचे देखने में आये। आगे कुछ टीलों पर बिखरे हुए सैनिक बैरक थे। वहीं पहुँचकर पता चला कि यहीं सागर विश्वविद्यालय के विभिन्न विभाग और छात्रावास थे। हरे भरे केरल से निकला हुआ मैं इस सूखे बंजर से स्थान पर पहुँचकर कुछ ग्लानि महसूस करने लगा। लेकिन अपने मित्र तथा भौतिकी विभाग के प्राध्यापक डॉ० चांडी के कमरे में पहुँचने के बाद मेरी उदासी कुछ कम हो गई। डॉ० चांडी में यह विशेष कुशलता रही है कि वे किसी भी परिस्थिति में लोगों को खुश रख सकते हैं।

उसी दिन शाम को मित्र के साथ मैं उन महान आचार्य के दर्शनार्थ चल पडा, जिनकी प्रशंसा कई लोगों से सुनी थी और जिनके चित्र ने मुझे कुछ कुछ आतंकित सा किया था। आचार्यजी के पास पहुँचने पर भी आतंक नहीं छूटा। उनकी सौम्य और गौर मुखाकृति पर हलका सा मंदहास छिटक पडा। पूज्य पंडितजी की (हम उनका उल्लेख इन्हीं शब्दों से करते थे) गरिमामय वेशभूषा उनकी आतंरिक गरिमा का प्रमाण देती थी। इस विषय में वे शाहखर्च थे। कीमती रेशमी कुर्ता, बढिया जवाहर बंडी, चमकते नये जूते और कीमती धोती —उनका स्थायी वेष रहा। उनके गोरे बदन पर ये खूब चमक रहे थे। स्वच्छ वेष पर उनकी अडिग आस्था उनकी सात्विक वृत्ति का प्रतीक थी।

सही पथ-प्रदर्शक

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के पास अपने को एक शोधार्थी के रूप में प्रस्तुत करने की हिम्मत नहीं हो रही थी। मेरे मित्र ने थोडी सी

अच्छी बातें आचार्यजी को पहले से सुना रखी थीं। आचार्यजी ने बड़े प्रेम से किन्तु थोड़े से शब्दों में विषय की सामान्य चर्चा की और दूसरे दिन मिलने का समय दिया। उन्होंने आवास आदि की सुविधा पर भी डॉ० चांडी को आवश्यक परामर्श दिया। वह मुलाकात छोटी थी, पर मेरे लिए वह बहुमूल्य और अविस्मरणीय थी। तीन चार दिनों की कठिन यात्रा के कारण जो कष्ट और थकावट हुई थी उसे आचार्यजी की भेंट और प्रोत्साहन ने दूर कर दिया।

यह उन्नीस सौ छप्पन-सत्तावन की बात है। उस दिन के बाद कितनी ही बार मैं उनके सत्संग का आनन्द पा सका हूँ। उन्हें अपनी मूर्खता भरी बातें सुनाकर अच्छे विचार ग्रहण कर सका हूँ। कभी कभी हलकी मानसिक दशा में उनके मुँह से कुछ विनोदमय बातें भी सुनने का मौका मिला है। ज्यों ज्यों उनसे मिलता गया त्यों त्यों उनका स्नेह और उनके प्रति श्रद्धा-भाव बढ़ते गये। उन्होंने कभी झूठी तारीफ़ या कृत्रिम अभिनन्दन से मुझे प्रोत्साहित नहीं किया। साहित्यिक चर्चा में वे मेरे लिखित अंश पढ़कर दो टूक बातें सुनाते थे। संयोग से मेरे विचार उन्हें तटस्थ और तर्क-संगत लगते थे। इसलिए कटु आलोचना या अतिशय खंडन का प्रसंग प्राय: उपस्थित नहीं होता था। वर्षों तक अध्यापन करने और कुछ न कुछ कलम घसीटते रहने से मेरे विचारों में आचार्यजी को स्वस्थता अनुभव होती थी। कहीं कहीं अपने सहज भावुकत्व के कारण कुछ लिख बैठता तो वे उसे एकदम पकड़ लेते। शोध को वे सप्रमाण और गंभीर विचार का ही क्षेत्र मानते थे। अनुभव, प्रतिभा और स्पष्ट विचारों के कारण आचार्यजी के सामने प्रत्येक शोध विषय की रूपरेखा इतनी स्पष्ट उभर आती थी कि नये शोधार्थी के लिए दिग्भ्रम की संभावना कभी नहीं रही। अपने छात्रों को विषय देते और रूपरेखा बनवाते हुए मुझे अपने आदरणीय आचार्य स्मरण आते रहे हैं। उनकी मंदहास भरी और वात्सल्यपूर्ण दृष्टि का अनुभव स्मृति से करता रहता हूँ। उनकी अदृश्य प्रेरणा ही मुझे कठिन प्रसंगों पर पथ दिखाती है।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी आधुनिक हिन्दी साहित्य के महान आचार्य के रूप में स्मरण किये जाते हैं। वे केवल साहित्यकार या लेखन-

व्यवसायी नहीं थे। उनकी स्मृति एक करुणाशील और उच्च विचारों के महान आचार्य के रूप में भी चिरस्थायी रहेगी। वर्तमान स्वार्थी और कपटपूर्ण शिक्षा-क्षेत्र में प्रिय आचार्यजी की टक्कर के महान व्यक्ति दुर्लभ रहे हैं। उनके सैकड़ों शिष्य पंजाब से केरल तक फैले हुए हैं। सभी एकमत से आचार्यजी की महानता का स्मरण मन ही मन करते ही रहते हैं।

सागर के प्रवास के बाद आचार्यजी के साथ उनकी केरल-यात्रा में कुछ दिन बिताने का भी सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उन्हीं दिनों मैं इस महान आचार्य के व्यक्तिगत गुणों का घनिष्ठ परिचय पा सका। व्यवहार में मधुरता, विचारों में दृढ़ता और वार्तालाप में गंभीरता उनमें एकत्र थी। उनके निकट रहने पर ही मालूम हो सकता था कि वे वज्र से कठोर दीखने पर भी कुसुम से कोमल हैं। सिद्धान्तों के दृढ़ रहने पर भी आचार्यजी अपने व्यक्तिगत सुख-विलास के लिए कभी किसी पर कोई बोझा नहीं डालते थे। परिस्थिति के अनुकूल अपनी भोजन-संबन्धी व्यवस्था को स्वीकार करने की उदार मनोवृत्ति उनमें थी। भारत भर का पर्यटन करते करते वे पूर्णतः भारतीय बने थे। इसलिए उनके आतिथ्य का कार्य करनेवालों को कभी किसी दुविधा का अनुभव नहीं होता था। कई वस्तुओं के निस्वाद लगने पर भी उनकी भौंहें टेढ़ी नहीं बनती थीं।

साहित्यिक शास्त्रार्थ में आचार्यजी की वज्र सी कठोरता अभिव्यक्त होती थी। तथापि व्यक्तिगत रूप से अधिकांश कवि आचार्यजी के सौजन्य से प्रभावित हैं। उनका हृदय साहित्यिक वैमनस्य से कलुषित नहीं होता था। जो उनके साहित्यिक प्रतिद्वन्द्वी रहे, वे भी उनकी सज्जनता के प्रशंसक रहे हैं। आचार्य जी के साहित्यिक विचारों से कई समीक्षक मतभेद अवश्य रखते आये हैं। मतभेद रखने का अधिकार भी उन्हें है। किन्तु सभी आचार्य जी के विचारों की दृढ़ता, भारतीय प्राचीन संस्कृति के प्रति उनकी आस्था तथा स्वच्छ मानववादी विचार-धारा के प्रति ममता का सम्मान एकमत से करते हैं। यह उनकी गरिमा का प्रमाण है।

केरल इनका ऋणी है

केरल आचार्य वाजपेयीजी का ऋणी है। उन्होंने केरल के हिन्दी छात्रों को विशेष प्रेम से प्रश्रय दिया था। केरल के कई प्राध्यापक उनके पथ प्रदर्शन से शोध की उपाधि प्राप्त कर सके हैं। उस महान साहित्याचार्य के निर्देशन में केरल के कई छात्रों ने हिन्दी के मौलिक वाङ्मय पर एवं मलयालम वाङ्मय से हिन्दी वाङ्मय की तुलना के क्षेत्र में शोध-प्रबंध प्रस्तुत किये हैं। आचार्यजी केरलीय छात्रों को तुलनात्मक अध्ययन की विशेष प्रेरणा देते थे। उनका समुचित तर्क यह रहा है कि हिन्दी भाषी प्रदेशों के छात्र तुलनात्मक अध्ययन करके उस नयी दिशा में हिन्दी साहित्य का विकास कर नहीं पायेंगे। इसके अलावा मौलिक वाङ्मय का अनुसन्धान पर्याप्त मात्रा में होता भी रहा है। इस नयी कार्य-दिशा के फलस्वरूप कई कृतिकारों, कृतियों और प्रवृत्तियों का तुलनात्मक अनुसंधान हो सका है। मौलिक विषयों पर भी केरलीय छात्रों ने सफलतापूर्वक शोध किया है।

उन दिनों आचार्यजी के निर्देशन में संपन्न तुलनात्मक शोध के दो चार विषय उदाहरणार्थ यहाँ दे रहा हूँ—

(१) आधुनिक मलयालम काव्य एवं हिन्दी काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

(२) हिन्दी एवं मलयालम के सामाजिक उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन

(३) हिन्दी और मलयालम वाङ्मय का समालोचनासाहित्य

(४) हिन्दी और मलयालम के काव्यरूप

(५) एषुत्तच्छन और तुलसीदास

ऐसे विषय प्रस्तुत करनेवालों में अधिकांश अनुभवी प्राध्यापक थे। आचार्यजी के दिशा-निर्देशन से केरलीय हिन्दी प्रेमियों के हृदयों में हिन्दी शोध का ठोस प्रभाव जम गया। उसका प्रत्यक्ष दर्शन बाद में विभिन्न कालेजों के प्राध्यापकों की शोधेच्छा में हुआ। उस महान आचार्य के करकमलों से जो बीज बोया गया वह केरल के उर्वर क्षेत्र में वटवृक्ष का आकार धारण करता गया।

उपलब्धियाँ

स्पष्ट बात है कि अहिन्दी प्रदेश के सारे छात्र अत्यंत उच्च कोटि के लेखक या अनुसंधाता नहीं हो सकते थे। फिर भी आचार्यजी की उदार और करुणाभरी प्रतिक्रिया यही रही थी कि केरल के होनहार छात्र भविष्य में स्वयं सुधर जाएँगे और हिन्दी के विकास में ठोस योग दे सकेंगे। आचार्यजी ने हिन्दी तथा प्रान्तीय भाषाओं के साहित्यकारों तथा साहित्यिक प्रवृत्तियों के तुलनात्मक अध्ययन की एक नयी दिशा ही खोल दी। तुलनात्मक अध्ययन के इस नये प्रयास से कुछ उत्तम ग्रंथ प्रस्तुत हो सके। राष्ट्रभारती और केरलभारती एक दूसरी के पास आ सकीं। अन्तरभारतीय साहित्यिक विचारों का एक नया युग प्रारंभ हो सका। प्रान्तीय भेद से भाषा-शैली, शब्दचयन, वाक्यगठन आदि में जो विलक्षणताएँ यत्र तत्र अनुभव हो सकती हैं उनसे युगान्तर में राष्ट्र-भारती का विकास भी संभव है।

आचार्यजी का स्मरण करते हुए आँखें भीग जाती हैं और मन एक अज्ञात दु:ख से कलुषित हो जाता है। साहित्यिक ही नहीं, वैयक्तिक सुख-दु:ख के प्रसंगों पर भी उन गुरुदेव के प्रेमपूर्ण आश्वासन के शब्द नयी आशा और विश्वास मन में भरते थे; खिन्न चित्त खिल उठता था। आचार्यजी का यह विशेष सौभाग्य रहा कि वे विश्वविद्यालयीन हिन्दी सेवा के क्षेत्र के अग्रणियों में थे। इसलिए धन एवं सम्मान सदा उनकी सेवा में हाज़िर रहते थे। परन्तु उन्होंने अर्जन-संरक्षण का लोभ कभी नहीं पाला। उनके इस पहलू पर अनुभवी लोग कितने ही उदाहरण-प्रमाण देते आये हैं। बिना कहे ही वे अपने छात्रों का उपकार कर देते थे। उनकी औढर दानिता की कथाएँ उनके छात्र जब परस्पर कहते हैं तब मन उस महान व्यक्ति के चरणों पर लोटने के लिए फिर से लालायित हो उठता है। उनकी उदारता और स्वच्छ-हृदयता ने उन्हें थोडा-बहुत वैयक्तिक कष्ट दिया था। किन्तु वे पूर्णतः नीलकंठ थे। वे जिस छोटे से सागर नगर में थे वह उन्हीं के कारण हिन्दी प्रेमियों तथा छात्रों के लिए तीर्थ बना था।

गोश्रीनगर से श्रीनगर

भारत की भावात्मक एकता के दो भौगोलिक प्रतीक हैं—कन्याकुमारी और हिमाचल। कन्याकुमारी की सागर-तरंगें अपने मायावी मन्दहास से हमें चकित करती हैं। उन तरंगों का गीत हमारे कानों को शहद से सींचता है। काश! चित्रकारिता मेरे वश की बात होती! सागर के झाग को देखते-देखते मुग्ध मन इच्छा करता था कि एक बार कश्मीर की हिमावली की झाँकी मिले, तो कितना अच्छा हो! यात्रासाहित्य में कश्मीर का वर्णन पढ़ते-पढ़ते इच्छा फिर से उभर उठती। अपने कोचिन-विश्वविद्यालय के प्रांगण में शाम-सबेरे कभी-कभी मीठे स्वच्छ नील रंग के आकाश में शुभ्र-श्वेत मेघों की वंकिम पंक्तियाँ रुई के घुंघराले गोले फैला देती हैं। तब फाहों में बर्फ़ की कल्पना करते मन-ही-मन कश्मीर-दर्शन का आनन्द पाता था। फ़िल्मों में कश्मीर के चित्र देखने पर भी मन की दबी अभिलाषा जाग पड़ती।

ईश्वर की इच्छा मुझे कोरी कल्पना से ही सन्तुष्ट रखने की नहीं रही। उसने कश्मीर को सचमुच देख लेने का सुयोग दिया। प्रशस्त हिन्दी साहित्यकार, कश्मीर-विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष और सहृदय डॉ० रमेशकुमार शर्माजी इस स्मरणीय यात्रा के माध्यम रहे। उन्होंने कश्मीर-विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में मलयालम-काव्य की बारीकियों की चर्चा का सौभाग्य मुझे दिया। केरलीय संस्कृति का सन्देश कितने ही रूपों में इसके पहले भी पहुँच चुका था। फिर भी, राष्ट्रवाणी के माध्यम से केरलवाणी की माधुरी का आदान-प्रदान खास महत्व रखता है।

कश्मीर का नाम प्रत्येक भारतीय को लुभाता है। किसी ने यहाँ तक कहा है कि अगर कहीं स्वर्ग है, तो वह यहीं है। हिन्दी और

संस्कृत के छात्रों केलिए वह देश विशेष प्रिय भूभाग रहा है। साहित्या-लोचन के मर्मज्ञ अभिनवगुप्त, कविसम्राट कालिदास तथा कथामृतवर्षी एवं औचित्य-सिद्धान्त के प्रवर्त्तक क्षेमेन्द्र की जन्मभूमि कश्मीर संस्कृत-साहित्य के छात्रों केलिये पुण्य-भूमि है। हिन्दी के कवियों को भी हिमालय एवं कश्मीर मोहते रहते हैं। इधर आधुनिक युग के श्रीधर पाठक की कविता 'कश्मीर' इसका अच्छा प्रमाण है। और तो और, प्रसादजी की 'कामायनी' का मुख्यस्रोत कश्मीरी शैवदर्शन है। कश्मीर के केसर के विना हिन्दी-क्षेत्र की सौन्दर्य-कल्पना पूरी नहीं होती। केरल के लिए एला-लवंग आदि की तरह यह स्वर्ण-केसर कश्मीर का अपना है। कभी कभी फिल्मों में, कभी साक्षात् कश्मीर के सुन्दर गोरे स्त्री-पुरुषों को देखते-देखते उस प्रदेश के जलवायु के प्रति ईर्ष्या होती है और अपनी कुरूपता पर आक्रोश। पर्यटन-विभाग के कश्मीर-विज्ञापन में कश्मीरी पोशाक की एक कन्या गोद में एक भेड का बच्चा लिए रहती है। दोनों बडे प्यारे लगते हैं। दीनों के चेहरों पर मासूमियत है, खूबसूरती का नूर भी। इतने प्यारे देश पर अधिकार पाने के लिए यदि राजनीतिक और सामरिक काण्ड होते थे, तो अचरज की बात ही नहीं। इसका लम्बा इतिहास राजनैतिक शतरंज के निरन्तर खेलों का इतिहास रहा है।

इतिहास के पृष्ठों पर

कल्हण की राजतरंगिणी कश्मीर के प्राचीन इतिहास पर प्रकाश डालती है। कहा जाता है, आज जहाँ घाटी है वहाँ पहले सतीसर झील थी, जो हि पर्वतों के वर्फ के पिघलने से बनी थी। उस झील में अत्याचारी दानव जलोद्भव रहता था। कश्मीर की तपस्या-प्रार्थना के फलस्वरूप बलभद्र ने उस झील को सुखा दिया और विष्णु ने जलोद्भव को सुदर्शन चक्र से मार डाला। यों, कश्यप ही इस घाटी के जन्मदाता रहे। वहाँ सबसे प्रथम बसे लोग लद्दाख, दर्दिस्तान और भारत के मैदान के निवासी थे। भारतवासी जाडों में वापस चले आते थे। धीरे धीरे अनेक भारतीय वहीं रहने लगे। महाभारत-काल से ही कश्मीर-शासकों की गाथा मिलती है। आगे प्रामाणिक इतिहास के युग में सम्राट

अशोक ने कश्मीर में अनेक बौद्ध बिहार एवं स्तूप बनवाए थे। इतिहास की लम्बी परम्परा में सम्राट ललितादित्य का नाम विशेष उज्ज्वल रहा, जिनका साम्राज्य बहुत ही समृद्धिशाली था। वे स्वयं साहित्यकार और कलाप्रेमी थे।

कश्मीर के इतिहास का नया मोड चौदहवीं सदी ई० में शुरू होता हैं। सन् १३०१–२० ई० में सूर्यदेव के समय में कश्मीर के लोगों ने इस्लाम धर्म कबूल कर लिया था। उन दिनों उत्तर भारत और केन्द्रीय एशिया में इस्लाम का काफ़ी ज़ोर हो गया था। उस सदी के अन्त तक कश्मीर में मुसलमान बादशाहों की हुकूमत जम गयी। लगभग साढे तीन सदियों के मुसलमान-शासन के बाद यह सुन्दर देश पठानों के शासन में आया। कहते हैं, वही युग धार्मिक कट्टरपन और निर्दयता की दृष्टि से वडा बर्बर रहा। अठारहवीं सदी के प्रारम्भ में सिक्ख-शासन का दौर शुरू हुआ। रणजीतसिंह की सेनाओं ने कश्मीर पर अपनी सत्ता जमा ली। जम्मू पर उन दिनों डोगरा—सरदार राजा रणजीतदेव शासन करते थे। उनकी मृत्यु के बाद जो राजनैतिक परिवर्तन और प्रपंच चले, उनके फलस्वरूप गुलाबीसिंह जम्मू और कश्मीर के अधीश बने।

ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कंपनी जब भारत के शासन के क्षेत्र में आई, तब उसकी गृध्रदृष्टि कश्मीर पर डोरे डालने लगी। उन को धीरे-धीरे सफलता मिलती गई। उसी मित्रता के बदले में गुलाबसिंह की तरफ़ से अच्छी धनराशि तो मिली ही, परोक्ष रूप से उस कूटनीतिक केन्द्र पर प्रभाव भी। कब्जा जबरदस्त होता ही चला। जम्मू-कश्मीर के अन्तिम प्रभावशाली शासक राजा हरिसिंह प्रतापसिंह थे। उन्हीं के समय, यानी सन् १९४७ ई० में भारत-पाकिस्तान का विभाजन हुआ। पाकिस्तानके प्रपंचों ने कश्मीर के कुछ हिस्सों पर अपने अनुकूल लोगों को उभार कर सत्ता जमा ली। उसे 'आजाद कश्मीर' नाम दे डाला। जब पाकिस्तान के हथियार-बन्द कबाइली कश्मीर में जबरदस्त घुसपैठ करने लगे, तब कश्मीर-नरेश ने सन् १९४८ ई० में भारत-सरकार की शरण ली। उन्होंने कश्मीर-जम्मू का अधिमिलन भारत में करा दिया

और वह खण्ड भारत ही हो गया। भारतीय सेनाओं ने कवाइलियों को खदेड दिया। अब भी उस पर्वत-प्रदेश की सुरक्षा के लिए भारत के सिपाही हिमालय के दुर्गम स्थानों पर दिन-रात पहरा दे रहे हैं। सामाजिक और कूटनीतिक महत्व का यह प्रदेश भारत में है। हिमालय के तुषार-मण्डित किरीट से भारत का गौरव बढा है। आखिर देवतात्मा हिमालय से रहित भारत की कल्पना भी कैसे हो सकती थी ?

जम्मू (जम्मू तवी) के पर्वतीय नगर से कश्मीर की बस में बैठते वक्त मन जोशीला था। प्रभाती पवन में सुहावनी शीतलता थी। सोचा कि पाँच-छह घण्टे की सैर होगी। मगर बारह घण्टे की यात्रा की संभावना सुनकर पहले कुछ घबराया। जब सुना कि एक ही चालक पूरे बारह घण्टे चलाएगा, तब तो और भी सकपकाया। केरल राज्य के सरकारी परिवहन-विभाग में दो वर्ष पहले चली हडताल याद आयी। बस चालकों का कार्यकाल किसी-किसी मार्ग में छह घण्टों की जगह सात घण्टों में समाप्त होता था। इसको लेकर हड़ताल, धरना आदि काण्ड हुए। यहाँ ऊबड-खाबड मार्ग, एक तरफ ऊँचे पहाडों के भारी पत्थरों के उखडकर गिरने की सम्भावना; दूसरी तरफ़ ज़रा-सा फिसलने पर सातवें पाताल में गिर जाने का भय, शरीर की नसों और मन का तनाव, सबके बावजूद मामूली वेतन—इन सबका सामना हिम्मत से करनेवाले कश्मीरी बस—चालकों के प्रति मुझे विशेष श्रद्धा अनुभव हुई। पर्यटकों को इनका कृतज्ञ होना ही चाहिए।

वैसे पहाडी पथ पर बस में चलने की आदत केरलवासियों केलिए नयी नहीं है। कालिकट एवं कण्णूर से मैसूर का रास्ता इसी तरह का होता है। कोट्टयम् से तेक्कडी का रास्ता भी कम नहीं है। वहाँ कभी-कभी इक्के-दुक्के जंगली हाथियों के आक्रमण का डर रहता है। तो भी हिमाचल की गोदी में जितनी विकट दशा है उतनी अन्यत्र नहीं। वे ऊँचे देवदार, चिनार और चीड के पेड़, वे भारी शिलाएँ और शिलाखण्ड—जैसे शिलाखण्डों का वर्णन तुलसी ने विंध्य के उदास वटुओं को आशा देने के साधन के रूप में बताया—छोटे छोटे जल प्रपात—वे सब इस स्थान पर अनोखे ही होते हैं। यह पर्वतीय पथ

सैनिक महत्व का भी है । अतः, सेना का निर्माण-विभाग हमेशा इसे यात्रोपयोगी और सुरक्षित बनाता रहता है । अगर ये सड़कें हमारे राज्यों के लोकसेवा-विभागों के वश में रहतीं, तो लाल-फीते में फँस-कर *'भोलाराम का जीव' बन जातीं । रास्ते में देखा—कठोर प्रकृति से संघर्ष, समझौता और प्रेम करके कितने ही मामूली लोग अतिशय दुर्गम ऊँचे पर्वतीय प्रदेश में भी कृषक-जीवन बिताते हैं, जंगल में मंगल करते हैं । रास्ते में, बीच-बीच में छोटे-छोटे कस्बे आते हैं, देहाती जिन्हें शहर ही मानते हैं । दूकानों की कतारें, छोटी-मोटी पाठशालाएँ, होटल, सिनेमाघर भी । भारत के इस उत्तरतम प्रदेश में भी वर्षों से स्कूल की स्थापना कर शिक्षा और ईसाई धर्म का प्रचार निष्ठा से करनेवाले धर्मप्रचारकों के प्रति श्रद्धा और विस्मय का अनुभव होता है ।

चढाव और समतल, चढाव और समतल का बारी-बारी से अनुभव करते और जहाँ-तहाँ थोडा-सा विश्राम-नाश्ता करते हुए हम शाम को साढे चार बजे बनिहाल रेस्ट-हाउस के सामने पहुँचे । स्थानीय भूगोल की जानकारी के अभाव में कैसे पता लगता है कि हम कितनी ऊँचाई पर हैं ? यहाँ जलपान और विश्राम में पहले से अधिक समय लगा, तो कुछ देर चहलकदमी करता रहा । बगल की दूकान पर मंगलोर की गणेश बीडियों का बण्डल देखकर कुतूहल हुआ । छोटी-छोटी जरूरी चीज़ें सारे देश को कैसे एकतामय कर देती हैं । खोजने पर केरल का 'चन्द्रिका' साबुन भी शायद मिल जाता । ट्राँसिस्टर पर 'विविध-भारती' के गीत सुनायी दे रहे थे ।

बनिहाल

गाडी अब ताज़ी चाल से आगे बढ़ी और नामी बनिहाल सुरंग-पथ की यात्रा करने लगी । इस पथ को पार करते हुए पुलकित हुए बिना नहीं रह सकते । जर्मन इंजीनियरों की अद्भुत प्रतिभा, अदम्य साहस, और कार्य-शक्ति ने इस दुर्गम पर्वत में सुरंगपथ खोदकर कश्मीर और

* हरिशंकर परसाई की कहानी का पात्र ।

भारत का पथ पूरे वर्ष भर चलने लायक बना दिया । इस पथ का उद्घाटन राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन ने किया था । 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' के औपनिषदिक आदेश का पालन करती गाडी प्रकाश-धारा बहाती, सीटी बजाती, सुरंग-पथ से आगे बढ़ रही थी । रोमांचकारी दृश्य था । मानव-शक्ति से यन्त्र-शक्ति की श्रेष्ठता को मानते हुए हम आगे बढ रहे थे । चिन्तन-धारा में डुबकी लगाए रहने से बनिहाल को पार करने की बात भी पहचान नहीं सके । अब उतार और समतल थे । नए समतल स्थान काज़ीगुण्ड में पहुँचे । काज़ीगुण्ड से श्रीनगर की यात्रा समतल की ओर थी, इसीलिए बडी तेज़ी रही । पर्वतीय भूमि को जगह भारत के अन्य नगरों के समान किसी नगर का चक्कर लगाने का ही अनुभव हो रहा था । दो घण्टों में हम श्रीनगर पहुँचे । ज्योतिर्मय नगर—श्री का नगर—अनन्त यौवना राज्यश्री का नगर । कश्मीर की राजधानी के रजकण को प्रणाम कर मैं ने अपने को धन्य माना । वर्षों की अभिलाषा जब किसी दिन सफल होती है तब अनुभव होनेवाला आनन्द केवल अनुभव से ही जाना जा सकता है । बर्फ और केसर के नगर में—श्रीनगर में कदम रखने पर मेरी पहली मानसिक प्रतिक्रिया इस सुयोग पर भगवान् को धन्यवाद देने की थी । रास्ते में छावनियों की भीड़ देखते आने के बाद मन में कुछ आतंक सा समाना सहज है । मगर यहाँ तो एकदम अमन-चैन था । इस अमन-चैन का थोडा बहुत श्रेय यहाँ के शान्तिप्रिय लोगों को है । कुछ तो उन तपस्वी योद्धावों को है जो दूर-दूर अपने घरबार बाल-बच्चों को छोड़कर इन छावनियों के टारपॉलिन के तम्बुओं या खपरैल की छोटी इमारतों में भीषण हिमपात का सामना करते हुए देशरक्षा और शत्रुदमन पर दत्तचित्त हैं । उन अज्ञात सिपाहियों के त्याग एवं कष्ट-सहन से यदि हम शिक्षा ग्रहण करें तो हमारे देश की सुस्ती और ऐयाशी जल्दी-से जल्दी दूर हो जाय । हम लोग तो दिन में चार-पाँच घण्टे पंखे के नीचे बैठकर कलम घसीटने की मेहनत को भी मरना एवं पिसना घोषित करते हुए आराम एवं सुविधा की माँगें

पेश करना चाहते हैं, धमकी भी देते हैं कि माँग पूरी न होगी तो पूरा काम ठप हो जाएगा। कैसी विडम्बना है!

साफ-सुन्दर पर्यटक-केन्द्र के सामने स्वच्छ सडकें और छोटे-बडे हरे मैदान बडे ही मनोमोहक रहे। नगर के नीचे से बहती झेलम, जगह-जगह उसे पार करानेवाले पुल, जिन्हें 'कदल' कहते हैं, यहाँ विशेष नज़र आए। पहले स्त्री-पुरुषों का लम्बा कश्मीरी चोगा, ऊनी कपडे, पगडी-टोपी आदि को देखते समय इसके फालतूपन पर चिढ आती थी। मगर इस भूभाग के जलवायु का प्रत्यक्ष अनुभव करने पर इनकी जरूरत प्रमाणित हो गयी—इनकी 'बोरसी' अंगीठी की आवश्यकता भी विदित हुई। बिजली के वर्तमान युग में धनी लोग शीत में अपने घरों को हीटर से तपा सकते हैं। मगर गरीबों की झोंपडी अंगीठी और गरीबों के शरीर बोरसी के बिना गरम नहीं रह पाते। सामान्यत: शीत सहन करने की आदत तो हो जाती है। तो भी इतने भीषण हिमपात के सामने गरम-से-गरम कपडे भी ठिठुरते हैं।

हमारे शहरों के पुराने हिस्से गयी-गुज़री टूटी-फूटी दशा में रहते हैं, जब कि नए खण्ड नयी सभ्यता के निशानों को स्वीकारते जाते हैं। श्रीनगर इसका अपवाद कैसे हो? यहाँ एक तरफ़ पुराने मकान हैं तो जवाहर नगर जैसी नयी बस्तियाँ भी हैं। इस मुहल्ले में सरकारी अफ़सरों—कर्मचारियों के निवास हैं। अस्पताल हैं, नए स्कूल भी। हिन्दू लोगों की धार्मिक श्रद्धा का उत्तम प्रमाण शिवमन्दिर भी मिला। जहाँ तक मकानों की बात है, स्वातन्त्र्योत्तर भारत के सारे नगरों की बात एक-सी होती है। नगर-नगर में फ़र्क नहीं पड़ता, चाहे लखनऊ हो, श्रीनगर हो, कलकत्ता हो या मद्रास। हाँ, श्रीनगर इस बात में भिन्न था कि यहाँ की रातें काफी ठण्डी थीं। साथ ही, मन सजग था कि कश्मीर आया हूँ। यही नहीं, झेलम नदी और उसमें हाउस बोटों की कतार दर्शन देती थी। यह कश्मीर के सिवा और कहाँ मिलता?

डा० शर्मा के अत्यन्त शिष्ट, छोटे और सुखी परिवार में दो-तीन दिन ठहरने का सौभाग्य जीवन की एक असुलभ स्मरणिका-सा रहा

रमेशजी का मन्दहासपूर्ण मुख, थोड़े से, पर सरस और आत्मीयतापूर्ण शब्द—भाभीजी का सस्नेह आतिथ्य, घर के नौकर की विशेष ममता—सबसे बढ़कर मुन्नी का प्यारा मुखड़ा। मुन्नी उस घर को अपनी तोतली मीठी बातों से, हँसी रुदन से और भी मोहक बनाती थी। दूरदर्शन उस घर को और शोभा देता था। भारत में अधिमिलन के बाद कश्मीर की जो श्रीवृद्धि हुई है, उसका एक प्रमाण कश्मीर का दूरदर्शन है। इसमें कश्मीरी, उर्दू और हिन्दी—तीनों भाषाओं के माध्यम से कार्यक्रम प्रसारित होते हैं।

सहज कुतूहल के कारण कश्मीर की भाषाओं के बारे में प्रश्न करने पर पता चला कि बोलियाँ कई हैं। नगर में कश्मीरी बोली जाती है; उर्दू भी पढ़ते हैं। हिन्दी भी चलती है। पर, हिन्दी का अधिक प्रचार जम्मू में है जहाँ के निवासी अधिकतर हिन्दू हैं। कश्मीरी प्रथम श्रवण में उर्दू-सी लगती थी, पर समझ में कम आ रही थी। इस भाषा के विषय में एक मजाक सुनने को मिला कि उर्दू के किसी भी शब्द के आखिर में 'स' जोड़ने से वह कश्मीरी हो जाती है बड़ीस, तकलीफस आदि। ऐसा ही विनोद संस्कृत के विषय में किया जाता है कि हर शब्द के अन्त में विसर्ग जोड़ने से संस्कृत बनता है।—'बड़ाः, घराः' आदि। जैसे मुस्लिम धर्म का अधिक प्रभाव जनता पर था, वैसे ही उर्दू का खास असर यहाँ मिला।

कश्मीर विश्वविद्यालय का अहाता बड़ा स्वच्छ और सुन्दर फुलवारियों से सजा था। पता चला कि राज्य का पिछड़ापन दूर करने के लिए कश्मीर में सम्पूर्ण शिक्षा—स्नातकोत्तर स्तर तक निःशुल्क होती है। हिन्दी विभाग काफी पुष्ट एवं प्रतिष्ठित है, जहाँ प्रबुद्ध छात्र-छात्राएँ प्रेम-श्रद्धा से हिन्दी साहित्य का अध्ययन करते हैं। मेरे भाषण की गोष्ठी की अध्यक्षता करते हुए कुलपति डा० चिश्ती ने बड़ी मार्मिक बात सुझायी थी कि हिन्दी के अधिकांश साहित्यकार कविता पर ही ध्यान देते हैं; गद्य पर ध्यान कम जाता है। साहित्य का मतलब कविता से ही नहीं; नाटक, उपन्यास, कहानी आदि से भी है। उन्होंने और हम सबने अनुभव किया कि किस प्रकार हिन्दी केरल और कश्मीर को

मिला रही थी। इस राष्ट्रभारती के माध्यम से कश्मीर के साहित्य-छात्र केरलीय काव्य की माधुरी कुछ-कुछ जान सके।

शंकराचार्य पहाडी पर

सीमित समय में दो-चार जगहें ही देख सकने का दुख जरूर टीस रहा है। फिर भी स्थालीपुलाकन्याय से शेष का अनुमान किया जा सकता है। श्री शंकराचार्य पहाडी श्रीनगर का सबसे ऊँचा स्थान है। यह बहुत पुरानी है और जनश्रुति के अनुसार, यहाँ का मन्दिर पाण्डव-वंश के राजाओं का बनाया हुआ है। 'राजतरंगिणी' के अनुसार तो सम्राट् अशोक के पुत्र जलौक ने ई० पू० २०० में यह मन्दिर स्थापित किया। बीच में इसे गोपाद्रि नाम से पुकारा जाता था। अब इसे शंकराचार्य पहाडी ही कहते है। यहाँ शिवजी और शंकराचार्य की मूर्तियाँ हैं और मन्दिर तक पहुँचने के लिये सीढियाँ चढ़नी पडती हैं। मन्दिर के द्वार तक और दस सीढियाँ हैं। पहले सडक से पैदल ही मन्दिर तक पहुँच सकते थे, अब मोटरें चलती हैं। इस नयी सुविधा और मन्दिर की सजावट का काम भारतीय संस्कृति के प्रकाण्ड विद्वान और कश्मीर-नरेश के वंशज डॉ० कर्णसिंह के सत्प्रयत्नों से हुआ है। जगद्गुरु के व्यक्तित्व के अनुकूल मन्दिर भी ऊँचा बना है। वे शेष लोगों से ज्ञान एवं विराग में ऊँचे थे। सारे संसार को अपनी दृष्टि से देखकर पूरा-पूरा समझ सकते थे—सारी दुनिया उनकेलिए हस्तामलक थी। उनका यह मन्दिर घोषणा कर रहा है कि धनमद से नहीं, अपितु ज्ञानबल से ही संसार के उच्चतम पद पर पहुँचा जा सकता है। जनता ने भी उस परमाचार्य का नाम इस पहाडी को देकर वैराग्य के प्रति भारतीय जनता के श्रद्धाभाव का प्रत्यक्ष प्रमाण दिया है।

यह मन्दिर एवं पहाड भारतीय एकता भी घोषित कर रहे हैं। बीच में राजनैतिक आक्रमणों और अन्य ऐतिहासिक कारणों से यहाँ इस्लाम-धर्म का प्रवेश और मुसलमानों की अधिकता हो गयी। फिर भी, यह स्थान उन उथल-पुथलों को भी सहन करके अपना अस्तित्व बचा सका, धार्मिक पवित्रता को भी। इस ऊँचे पहाड पर खडे होकर

देखते हैं तो श्रीनगर ही क्या, कश्मीर का काफ़ी भूभाग नज़र आता है। श्रीनगर की डल झील, बहते बाग और उनके चारों ओर की पहाडियों के निराले दृश्य बडे ही मनोहारी हैं। केरल में जन्मे अद्वैताचार्य श्रीजगद्गुरु शंकराचार्यजी को उत्तरतम भारतीय सीमा पर इस गौरवपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित देखकर मेरा मन गर्व का अनुभव कर रहा था कि मैं भी उस महान् की जन्मभूमि में जन्म लेनेवाला क्षुद्र व्यक्ति हूँ।

श्रीशंकराचार्य के रचे स्तोत्रों में सबसे लोकप्रिय 'भज गोविन्दं' है। श्रीशंकराचार्य पहाडी से उतरते समय मेरा मन भी 'भज गोविन्दं भज गोविन्दं, गोविन्दं भज मूढमते" पंक्तियों को दुहरा रहा था। आचार्यवर का गम्भीर उपदेश रहा कि सांसारिक मोहमाया या भौतिकवादी सुखचिन्ता में समय गँवाए विना भगवान् के भजन में लीन होना चाहिए।

रंगीन झील

पहाडी से उतर कर सडक पर आया तो सामने डल झील में शिकारे हवा के झोंकों में झूम रहे थे। डल झील कश्मीर की जान है। शायर जिसकी तारीफ़ करते न अघाते, छायाकार जिसकी रंगीन छवियों को भिन्न-भिन्न कोणों से अब भी उतारते रहते हैं, जिसके शिकारों में कश्मीरी सौन्दर्य की पुतलियों को देखकर जवानों के दिल तड़प का शिकार हो जाते हैं, उस मायाविनी का साक्षात्कार मुझे हो रहा है। यह बहती तो मौन है। मगर यह कश्मीर के घटनापूर्ण इतिहास की साक्षी है। पढने में आया कि बर्बर शासकों के युग में हिन्दू लोगों को बोरे में भरकर इस झील की गहराई में डुबोया जाता था। काशी की गंगा स्वर्ग पहुँचाने की शक्ति रखती है। यदि झेलम में वही पावनता रही हो तो शायद उन अभागों को भी स्वर्ग मिला होगा। धर्म एवं ईश्वर के पीछे संसार के इतिहास के कितने ही पृष्ठ खून से रंगे हुए हैं।

प्रथम दृष्टि पर मेरा मन कहने लगा—कोचिन की विशाल झील के सामने यह कुछ भी नहीं है। झीलों और नदियों के राज्य से आकर मुझे डल झील क्षण भर के लिए 'डल' ही लग रहा था। सोचने लगा

कि क्या हिन्दुस्तान के लोगों के दिमाग इतने खराब हो गए कि इस डल झील पर मर रहे हैं। पर शान्तिपूर्वक सोचने से उसका जवाब भी मिला। पहाड़, वर्फ, झील, बाग, झील की नौकायात्रा, हाउसबोट आदि अनेक प्रकार के आनन्द एक साथ एक ही जगह मिलते हैं तो कश्मीर में। डल झील उसका मुख्य अंग है।

जिस वक्त हम डल झील पहुँचे उस वक्त साँझ की झुटपुट शुरू हो गयी थी। अतएव सैर करनेवालों की भीड छँट चुकी थी। इक्के-दुक्के शिकारे तालगति पर चप्पू मारते, भिन्न-भिन्न दिशाओं में भटक रहे थे। एक शिकारे का मल्लाह हमें घुमाने को तैयार हो गया। सिर पर कश्मीरी टोपी, दुवला-पतला तन, छोटी-पतली दाढी, मैले कपडे। वह डाँड मारने लगा और चंद मिनट ही बीते होंगे कि साथियों को आवाज़ दे-देकर कुछ बताने लगा। उसका चेहरा थकावट में भी खिल उठा। अपने मित्र से मुझे मालूम हुआ कि वह ईद का चाँद देखने की सूचना दे रहा था। ईद का चाँद देखने का मतलब था कि रोज़ा तोड सकते थे। हमें झटपट एक किनारे लगाकर वह बोला—'अब मैं नहीं चलूँगा, नमाज पढूँगा, दूसरे को लगाइएगा'। उसने हथेली में पानी लेकर पिया और रोजा तोडा। किनारे कपडे बिछाकर पश्चिम की ओर दृष्टि किए नमाज पढने भी लगा। हमें दूसरा शिकारा करना पडा। इस कश्मीर में जिन्दगी का लुत्फ़ उठाने के लिए, खाने-पीने और मजा करने के लिए धनी से धनी आते हैं—शायद वे दिन-रात का भी फर्क भूल जाते हैं। पर, यहाँ यह गरीब मल्लाह दीने इस्लाम का इतना भक्त है कि रोज़ा का नमाज पढने के विषय में ऐसी निष्ठा रखता है। शायद धनियों का दावा हो कि धन से हम धर्म-पुण्य सस्ते दाम पर थोक रूप में खरीद सकेंगे।

नये शिकारे का मल्लाह यूसुफ़ किशोर था। उसके हाथ बडी खुशी से चप्पू मार रहे थे, मेरा साथी भी साथ दे रहा था। मौज में आए मल्लाह के गले से सुरीली आवाज़ आने लगी। शिक्षित शास्त्रीय संगीत थोडे ही था। ठेठ कश्मीरी लोकगीत और ठेठ देहाती कण्ठ!

दो-चार पंक्तियाँ ही थीं—उन्हीं को बारंबार दुहरा रहा था। कोई विरहिणी प्रेमिका प्रवासी प्रेमी को उलाहना दे रही थी कि अब कितने दिन और बिलमाओगे? कश्मीर की मिट्टी में ही प्यार-मुहब्बत की महँक है। यहाँ की प्रकृति ने जिस प्रकार मिठास और मोहक रंग सेब और केसर में भर दिया है, उसी प्रकार की मिठास और रंग यहाँ के फूलों को —किशोर-किशोरियों को भी दिल खोलकर प्रदान किए हैं। लालारुख जैसी कहानियाँ यहाँ परम्परा से प्रचलित भी हैं।



मानव-मच्छर-संवाद

निशि की दो घडियाँ बीतीं, बदन हुआ बेहाल,
जगकर जो आँखें खोलीं, मच्छर दिये दिखाय।
मच्छर-बन्दा में हुआ निशा-मध्य-संवाद,
गद्यरूप लिख डारिहौं मित्र-बन्धु-मुद-हेत ॥

बंदा बोला :

दुःख-कष्टमय लोक की सारी चिन्ता भूलकर निद्रा की गोद में मन्द-पवन की लोरी सुनता मैं सो रहा था। आपने मुझे चोट लगाकर और जगाकर बडा अन्याय किया। यह अकेले मेरी ही बात नहीं। मेरे सारे युवा-वन्धुओं को आप कष्ट देते हैं। यह क्या उचित है?

मच्छर उवाच :

प्यारे वत्स, राष्ट्रभाषा हिन्दी वर्षों से सीखने पर भी, कबीर, सूर की ज्ञानोक्तियाँ पढने पर पर भी, तुम जो कडवी बातें कहते हो सो अच्छा नहीं लगता ! कबीर ने तुम्हें सिखाया है न ?

कबिरा ऐसी बोलिये मन का आपा खोय
औरन को सीतल करै आपहु सीतल होय।

तुम जो चिन्ता भूलकर सोने की बात कहते हो वह स्वयं भूल है। कर्ममय जग में जितने सचर हैं सारे कर्म-निरत हैं। केवल तुम्हारा सोना नहीं सोहता। जो सोता है सो खोता है; जो जगता है सो पाता है। जब काल केश ग्रहण किये खडा है तब अपना ज्ञान बढाकर जनसेवा करना ही तुम्हारा धर्म है।

वंदा बोला :

भो मच्छर! आप की ज्ञान-भरी वात्सल्यमयी बातों से मेरा मन कुछ शान्त हो गया। किन्तु लोग आप को अत्यन्त क्षुद्र प्राणी बताते हैं। आप के शब्द तो ज्ञानोपदेश देते हैं। इस मोह को दूर कीजिए।

मच्छर उवाच :

यों तो मानव से मुझे विशेष ममता नहीं है। मगर तुम तो अहिंसक मालूम पडते हो। मांस-मछली से दूर रहनेवाले। अतः तुम्हें तत्व का उपदेश देता हूँ। लोग मेरा लघु सा रूप समझकर तुच्छ कहते हैं। वे मेरी शक्ति नहीं जानते। इस विज्ञान-युग में परमाणुओं का आकार यदि ये लोग समझते तो मेरी हँसी न उडाते। मैं वस्तुतः लघु नहीं हूँ। मेरा जन्म इच्छानुसार क्षण-क्षण में होता है। "संभवामि क्षणे-क्षणे" उक्ति ही मेरे विषय में ठीक है। इस काया पर मेरी आस्था भी नहीं। अतएव मैं जब चाहूँ एक शरीर छोडकर दूसरा ग्रहण करूँगा।

वंदा बोला :

आपके वचन मुझे अलौकिक प्रेरणा दे रहे हैं। कुछ और सुनना चाहता हूँ।

मच्छर उवाच :

वत्स, मैं अनुपम शक्तिशाली हूँ। लोग मुझे ठीक-ठीक नहीं पहचानते। गायकों के गायक मैं ने ही राइट भाइयों के कानों में वायुयान बनाने का मन्त्र फूँक दिया था। दलितों की बस्तियों में घूम-घूमकर मैं जागरण का मन्त्र सिखाता हूँ तो धनिकों पर मेरा क्रोध ऐसा है कि मैं उनका खून चूस लेता हूँ। भोले ग्रामवासियों से मेरी सहानुभूति है, पर नगरवासियों से मेरी चिढ़ है। नगर को नरक बनाने की अद्भुत शक्ति मुझमें है। कभी मैं अणु से अणु बनता हूँ कि तुम मुझे नहीं देख सकते। कभी तो इतना बडा हो सकता हूँ कि स्थूल दृष्टि तक देख सकती है।

बन्दा बोला :

परम प्रतापी, आपकी दिव्य शक्ति किन भक्तों को मिल सकी है ?

मच्छर उवाच :

चौगुना ब्याज लेने वाले साहूकार, पराई दौलत हड़पनेवाले चार सौ बीस, स्याही कागज़ को बरबाद कर जनसमाज को अपनी कविताएँ सुनानेवाले तुक्कड़बाज और ऐसे अन्य मेरा वरदान पाये हुए हैं।

बंदा बोला :

अनंत कृपालु! बन्दे का एक सन्देह दूर करें! करुणाशाली आप को अज्ञानी लोग भीषण रोगों का प्रचारक कहते हैं। वे आपको कीटनाशक दवाओं से नष्ट करना चाहते हैं। यह कहाँ तक उचित है?

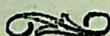
मच्छर उवाच :

मूर्ख मानव के प्रयास को देखकर हमें हँसी आती है, वत्स! संसार की बढती अन्न-समस्या देख करुणार्द्र मैं अनंतरूपी होकर कुछ नालायक लोगों को परमपुरुष के पास पहुँचाता हूँ। सृष्टि-स्थिति के साथ संहार की भी थोडी शक्ति दिखाता हूँ। लोग मेरे उपकार के बदले अपकार करते हैं। इसमें आश्चर्य नहीं। तुमने सुकरात, ईसामसीह, मंसूर और अन्य आदर्शवादियों-लोकोपकारियों की कथा सुनी है। कब दुनिया ने सच्ची कृतज्ञता दिखाई है? लोग मुझे कष्ट पर कष्ट दें, पर मैं कृपा करना नहीं छोड़ूँगा। "इतते ये पाहन हनत उतते वे फल देत"।

बंदा बोला :

धन्य हूँ। मेरा अज्ञान दूर हुआ। मैं आपके गुणगणों का प्रचार कर सत्य की सत्ता स्थापित करूँगा।

दे उत्तम उपदेश मुझे, जब विदा हुए मच्छर।
मैं पुलकित हर्षित हुआ, धन्य-धन्य मच्छर।
नींद सतावे जो कहीं, पढना हो मुश्किल।
श्रद्धा से तब बाँच लो यह मच्छर-संवाद।



लीजिए आपकी चाय

असम की राजनैतिक समस्याओं पर मतभेद हो सकता है। मगर असम की चाय की मिठास पर मतभेद नहीं हो सकता। असम राज्य का स्मरण करने पर अयाचित रूप से असमिया चाय याद आती है। दार्जीलिंग के हरे पहाडी भूभाग के चाय-बागान भारत के निवासियों को चाय का अमृत भेंट करते हैं। पूरब में असम है तो दक्षिण में तमिलनाडु और केरल चाय-बागानों के खज़ाने हैं। क्या पूरब, क्या दक्षिण, देश भर की चाय भारतवासियों की जीभ और जी को तरावट पहुँचाती है। भारत की चाय सात समुंदर पारकर एक दूसरे के खून के प्यासे विदेशियों की मेज़ पर विराजती है। पूँजीवादी अमरीका और साम्यवादी रूस एक दूसरे पर वात-बात में अभियोग लगाते हैं। जनवादी चीन और साम्यवादी रूस में मनमुटाव है। चीन और जापान की पुरानी दुश्मनी वदनाम है ही। फिर भी सारे के सारे देशों के निवासियों के दिल "चाय" पर निछावर होते हैं। यहाँ हम बच्चन की मधुशाला की पंक्तियों की नकल करके दो नयी पंक्तियाँ क्यों न सुनावें।

दक्षिण उत्तर पूरब पच्छिम
मेल कराती मीठी चाय !

ओवर ए कप ऑफ टी

इसे अंग्रेज़ों ने जितना दुलार दिया, प्रचार-प्रसार दिया उतना दूसरों ने शायद ही किया हो। चाय पीने में अंग्रेज़ ही दुनिया में सब से आगे हैं। जहाँ भारतीय प्रतिवर्ष औसतन पौन ($\frac{3}{4}$) पौंड चाय का उपयोग करते हैं वहाँ अंग्रेज़ प्रतिवर्ष औसतन $4\frac{1}{2}$ पौंड चाय पीते हैं।

इतिहास बताता है कि सन् १७०३ ई० में ही इंग्लैंड में चाय सम्मानित पेय बन चुकी थी। चाय के पीछे कितने ही वाक्यांश और मुहावरे अंग्रेजी में बने हैं। जैसे—ओवर ए कप आफ टी। (चाय पीने के बाद) चाय पीते दो मित्र आपस में मामूली व गंभीर बातों पर बहस करते हैं। उसी की ओर इशारा है। यों और एक मुहावरा चल पडा "चाय की प्याली में तूफान।" इसका मतलब है—बिलकुल मामूली बातों के पीछे घटित हंगामा।

इंग्लैंड में चाय की खेती थोडे ही होती थी। वह और देशों से ही चाय मंगाता रहा है। चाय का उत्पादन सबसे पहले चीन में हुआ था। जनश्रुति के अनुसार इसका प्रारंभ २७३७ ई० पू० को हुआ। जापानी लोगों की जनश्रुति भी चाय को इतनी ही पुरानी मानती है। लिखित इतिहास के अनुसार ई० चौथी शती चाय के प्रारंभ का युग है। लूयू नामक चीनी विद्वान ने चायिंग नामक पुस्तक में चाय उत्पादन और तत्संबंधी अनेक बातों पर पहले पहल लिखा था। सर्वविज्ञानकोश में चाय का विवरण यों मिलता है—"चाय एक मध्यवर्ग का पेड जो दक्षिण-पूर्वी चीन, उत्तरी बर्मा, इंडोचीन, कंबोडिया, असम, मणिपुर, कचाल, लुशाय -आदि देशों तथा राज्यों के वनों में होता है। इस वृक्ष की ऊँचाई १२ से १५ मीटर तक होती है। तने की मोटाई ६० से १२० तक सेंटिमीटर। चाय, चा, ते—ये शब्द चीनी भाषा से निकले हैं।"

भारत में चाय

चाय के पेड भारत में प्राचीन युग से थे। असम में, मणिपुर में, जंगली पेड के रूप में चाय के वृक्ष खूब फैले थे। लेकिन वहाँ के लोग एक अच्छे पेय के रूप में चाय का उपयोग नहीं जानते थे। भारतीय चाय को ढूंढ निकालने और भारत में चाय की खेती शुरू कराने का श्रेय कुछ अंग्रेज प्रशासकों तथा वैज्ञानिकों को है। उन्नीसवीं सदी की बात थी। श्री स्विंटन नामक सज्जन को वनस्पति विज्ञान से संबन्धित अनुसंधान करते हुए भारत में चाय के पेडों के होने का पता लगा। कुछ वर्षों के बाद ईस्ट इंडिया कंपनी के एक अंग्रेज अधिकारी ने भारत के

वाइसराय वारन हेस्टिंग्स को और एक कलकत्ता-निवासी सैनिक अधिकारी को भेंट के रूप में चाय के बीज दिये। वारन हेस्टिंग्स ने भूटान के श्री० जोर्ज ब्रोयल को भेंट के रूप में चाय के बीज खेती की परीक्षा के लिए भेजे। भूटान में यह सफल रही। कलकत्ते के सैनिक अधिकारी अपने बाग में चाय की खेती सफलतापूर्वक कर सके।

भारत की भूमि को चाय के लिए अनुकूल पाने पर अंग्रेज़ सरकार ने वाणिज्यिक खेती के तौर पर उसकी संभावनाएँ परखने का निर्णय किया। अनुसंधान से यह निष्कर्ष निकला कि असम आदि स्थानों की चाय चीनी नस्ल की चाय से बेहतर है। यह भी पता चला कि पूर्वी भारत में असम जैसे चाय की खेती के लिए अच्छा है वैसे दक्षिण भारत के नीलगिरि एवं केरल के कई पहाडी प्रदेश चाय की खेती केलिए अनुकूल हैं।

अंग्रेज़ों को मानों सस्ती चाय का एक अक्षयकोष मिला। इंग्लैंड के कई धनी लोग भारत में चाय के बागान लगाने लगे। अंग्रेज़ कंपनियाँ भारत में पंजीकृत होकर चाय के बागान चलाने लगीं। आदमियों के रहने या और प्रकार की खेती करने की दृष्टि से बेकार पर्वतीय भूमि सरकार की तरफ से करीब-करीब मुफ़्त मिलती थी। हिम्मतवर लोगों ने यहाँ ज़मीन की सफाई कर चाय लगाना शुरू किया। शुरू की ज़िन्दगी सचमुच कठिन रही। अनेक लोगों की शहादत के बाद ये बागान लोगों के उपकारी सिद्ध हुए।

केरल के चाय बागान और अंग्रेज़

केरल के चाय बागानों के उदाहरण से हम उपर्युक्त तथ्य आसानी से समझ सकते हैं। यहाँ के कन्नन देवन, मुडीस आदि बागानों के मालिक अंग्रेज़ थे। ब्रूक बोण्ड चाय कंपनी, लिप्टन चाय कंपनी, डंकन इंडस्ट्रीस आदि अंग्रेज़ों के स्वामित्व की कंपनियों ने सफलतापूर्वक चाय बागान चलाये। उनकी देखा-देखी केरल के कई साहसी सज्जन चाय की खेती में लगे। केरलीय सज्जन चाय की अपेक्षा रबड के बागान अधिक लगाते आये हैं। चाय के बागान की भूमि सस्ते में मिल जाती थी।

तमिलनाडु और केरलीय पर्वत-प्रदेश के निवासी स्त्री-पुरुष मजदूर बहुत सस्ते मिलते थे। वरुण पानी देते थे, ज़मीन चाय। मज़दूर चाय की पत्तियाँ तोडते थे। तुडी पत्तियों को उचित प्रविधि से संसाधन करके चाय की पेटियों में भेजा जाता था। इसमें बहुत अच्छी आय देखकर अंग्रेज़ों की देखादेखी उत्तर भारत के कई उद्योगपति भी इस क्षेत्र में आ गये। भारत की स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद जब अंग्रेज़ भारत की अपनी संपत्ति बेचते गये तब भारतीय उद्योगपतियों ने कई अंग्रेज़ कंपनियाँ खरीदीं। इसी सिलसिले में चाय बागान भी अब भारतीय स्वामित्व के हो गये हैं। टाटा, बिड़ला, गोयनका आदि उद्योगपतियों के द्वारा लिमिटड कंपनी के रूप में चाय-बागान चलाये जा रहे हैं। हमारे देश की आर्थिक व्यवस्था में चाय-बागानों का बहुत बडा योगदान है।

केरल की भिन्न मूर्तियाँ

अन्य राज्यों से छोटा होते हुए भी केरल प्राकृतिक विभिन्नता का अद्भुत उदाहरण प्रस्तुत करता है। यहाँ समुद्र के एकदम किनारे कई गाँव-नगर बसे हैं। कभी-कभी समुद्र की वज्र भुजाएँ इन तटवर्ती गाँवों पर कठोर प्रहार करती हैं। कुछ स्थान समुद्र से थोडी दूर पर नदियों-झीलों, तालाबों से घिरे हैं। वहाँ पडोसियों और मित्रों के घरों को भी डोंगियों पर जाना पडता है। कुछ स्थान अन्य राज्यों के नगरों के समान हैं। यहाँ छोटी नदियों का मधुर जल प्राप्त है। इसी केरल में समुद्रतट से १५०० फुट ऊँचाई से लेकर करीब ५०००, ६००० फुट ऊँचाई तक के भूभाग हैं। कहा जाता है कि हिमालय के उच्चशिखरों के बाद दक्षिण का उच्च श्रृंग केरलीय पर्वतमाला में कन्ननदेवन बागान के एक खंड में मिलता है। केरल के भौगोलिक विवरण में इसे 'हैरेंज' कहा गया है। रबड़, कॉफी, चाय, इलायची, जायफल, सागौन और अब कोको की संपत्ति देनेवाले ये पहाडी स्थान सोना फल रहे हैं।

तमिलनाडु—केरल का प्राचीन संबंध

केरल के पहाड तमिलनाडु एवं केरल की सरहद में स्थित हैं। यहाँ से पाँच छः घण्टे की बस-यात्रा करके मदुराई पहुँच सकते हैं। पेरियार

नदी और तेक्कडि का मशहूर वन्यप्राणी केन्द्र इन्हीं पहाडी प्रदेशों में हैं। भौगोलिक निकटता के कारण तमिलनाडु के सैकडों स्त्री-पुरुष नौकरी के लिए केरल के चाय बागान आते हैं। बागान के कामों में इन्हीं मेहनती स्वामिभक्त लोगों को तरजीह दी जाती है। यह आलसी और सुखी जीवन के प्रेमियों का धंधा नहीं है। इतिहास और संस्कृति के शेष चिह्न बताते हैं कि केरल का यह भूभाग और पांड्य देश सम्मिलित थे। इस पर्वती भूभाग में मदुराई मीनाक्षी और कण्णकि के मंदिर हैं। ये दोनों तमिलनाडु की ही देवियाँ हैं। किसी ज़माने में केरल के पूंजार नामक स्थान के राजा बडे प्रतापी थे। उन्होंने इन भूभागों को पांड्य के तत्कालीन राजा से ले लिया था। फलतः प्रशासनिक और भौगोलिक दृष्टि से ये स्थान केरल में रह गये। संस्कृति एवं भाषा की दृष्टि से ये तमिलभाषी ही रहे। अब भी चाय-बागानों के बडे मालिक और छोटे-बडे अफसर केरलीय या बाहरी होते हैं, पर पत्तियाँ तोडनेवाले मज़दूर बहुधा तमिलनाडु के ही निवासी होते हैं। यहाँ प्रत्यक्ष रूप से दो राज्यों की भावात्मक एकता मिलती है।

मषैयालम (बारिश का देश)

केरल को तमिष-भाषी मजाक में "बारिश का देश" (मषैयालम) पुकारते हैं। यहाँ लगभग बारहों महीनों में पानी बरसता है। बारिश के वरदान ने ही तो केरल के पहाडी प्रदेश को चाय के अनुकूल बना रखा है। उर्वर और लसदार मिट्टी, प्रतिवर्ष १११.५ सेंटिमीटर वर्षा, वर्षाजल के पौधों के आले में रुके या जमे बिना बह जाने की सुविधा, बारहों महीनों में वर्षा की सुलभता आदि चाय की खेती केलिए आवश्यक हैं। ज़मीन की ऊँचाई और बारिश की सुलभता की मात्रा के अनुसार चाय की उत्तमता बढती है।

टी बुष

चाय के तगड़े पौधों की पत्तियाँ ही चाय हैं। ये अमरूद की तरह बडे होते हैं। लेकिन पेडों के पत्ते कडे और फीके रहते हैं। सिर्फ़ बीजों के लिए कुछ पेडों को यथेष्ट बढने देकर शेष पौधों के रूप में ही

पाले जाते हैं । अत: आदमी को खडे होकर पत्तियाँ तोडने की सुविधा मिलती है । ये पौधे खुले हरे झाड से लगते हैं और इन्हें 'टी बुप' पुकारा जाता है । कम ऊँचाई के स्थानों पर जो चाय होती है वह गाढा रस और रंग देती है । ऊँचे स्थानों की चाय में लाली कम रहती है, पर बढिया महँक होती है । इसी को उत्तम चाय माना जाता है ।

दो पत्तियाँ और एक़ कली

"दो पत्तियाँ और एक कली" प्रसिद्ध लेखक मुल्कराज आनन्द का लोकप्रिय उपन्यास है । दो पत्तियाँ और एक कली चाय के पत्ते तोडने की प्रविधि के अंग हैं । मज़दूरिनें पीठ पर कपडे का झोला लिये चाय के झाड के पास पहुँचती हैं । उनकी अनुभवी पारखी उँगलियाँ मशीन की सी तेज़ी से "दो पत्तियाँ और एक कली" के एकक के हिसाब से पत्तियाँ तोडती और झोले में डालती जाती हैं । मूसलधार बारिश में भी अपनी निजी व्यथाओं को चुपचाप झेलते हुए पत्तियाँ तोडती इन श्यामांगी युवतियों को देखते वक्त सरदार पूर्णसिंह का निबंध "मज़दूरी-और प्रेम" स्मरण आता है । पूर्णसिंह ने कश्मीर की किसी गरीब झोंपडी के भीतर धुंधली रोशनी में दु:खती कोमल उँगलियों से पशमीने की चादर में बेलबूटे काढती गोरी कश्मीरी माँ-बेटियों का चित्र खींचा है । उस चादर के धागे धागे में उन माँ बहनों की जो ममता पिरोयी हुई है उसे मामूली ग्राहक क्या पहचानें । इसी तरह चाय की पत्तियाँ तोडनेवाली उँगलियों का दर्द और उन उँगलियों की मालकिन की ममता को हम चाय पीते हुए थोडे ही पहचानते हैं ।

प्रकृति वरदान ही नहीं करती, समस्या भी देती है । अमृत-मंथन का मिथक सारे संसार के लिए लागू है । अमृत निकालने की प्रक्रिया में विष का सामना करना ही पडता है । प्रकृति की प्रेम-वर्षा से ज़मीन सोना उगलने के लिए तैयार होती है । लेकिन विश्वामित्र की संतानें-कीडे-मकोडे किसान को हरा देती हैं । ब्लिस्टर ब्लैंड कहलानेवाला कीटरोग इनमें सबसे घातक है । अब रासायनिक दवाएँ छिडकाकर झाडों को कीटरोगों से छुडाया जाता है ।

आधा आदमी आधा मशीन

मानव और यंत्र का समन्वय चाय के संसाधन में स्पष्ट दिखाई देता है। मलयालम में एक कहावत है—"आप आधा करो। आधा ईश्वर कर लेगा।" अब कहावत का रूपान्तर हो गया है—"आदमी आधा करता है। आधा मशीन करता है।"

तुडी हुई पत्तियाँ चाय-संसाधन के कारखाने में पहुँचाई जाती हैं। छोटे-छोटे बागानों के पास यंत्र नहीं होते। वे वडे कारखाने को पत्तियाँ बेचते हैं। कुछ वागान सम्मिलित रूप में सहकारी विधि से कारखाने चलाते हैं। बडे बागानों के पास अनिवार्यतः संसाधन का कारखाना होता हैं।

पत्तियों के संसाधन की पहली प्रविधि नमी दूर करना है। पौधों से तुडे पत्तों में नमी होती है। इन पत्तों को विभिन्न परातों में या जालीदार दराजों में—बारह से चौबीस घंटों तक रखकर नमी निकालते हैं। इस के लिए मशीन से सहायता ली जाती है। सूखे पत्तों को अब पीसा जाता है। बेलनेवाले मशीन में डालकर इन्हें पीसते हैं। यंत्र में पुर्जे लगते हैं और घूमते पुर्जों से जरूरत के अनुसार पीस लेते हैं। पिसाई की प्रक्रिया से चाय अधिक स्वादिष्ट होती है। पिसाई की नई सी. टी. सी. की प्रक्रिया अब अधिक लोकप्रिय है।

पिसाई व सी टी सी प्रक्रिया चाय के पत्तों के भीतर का रस निकालकर पूरे पत्तों को अधिक रसमय बनाती है। इसके बाद पत्तों को तीन इंच की घनी तह में बिछाकर इनमें खमीर लाते हैं। खमीर चाय के स्वाद को बढाने में सहायक है। रसमय पत्तों को अब भूनने-वाले यंत्र में पहुँचाया जाता है।

छँटाई की दराजें

तापित पत्तों को छांटने के यंत्र में डाला जाता है। इसमें चार पाँच आकारों की छलनियाँ लगी रहती हैं। हर छलनी की दराज से एक नली लगी है। कटी और तपी पत्तियाँ अपनी शकल और लंबाई

के हिसाब से अपनी अपनी दराज व नली के ज़रिये पेटियों में पहुँचती हैं। जैसे जैसे पत्तियाँ गिरती हैं वैसे वैसे उनकी पेटियाँ बदली जाती हैं। कौन कहता है कि आदमियों में ही चातुर्वर्ण्य हैं ? चाय का भी चातुर्वर्ण्य होता है। इनके बाज़ार के मानक नाम हैं—बी. ओ. पी., बी ओ. पी. फैनिंग, फ़ैनिंग्स, डस्ट। खास खास बागान अपने-अपने नाम भी देते हैं। चारों स्तरों के बाद जो कुछ निकलता है उसे क़ूडा मानकर क़ूडे को बढिया खाद के रूप में फिर से पौधों को ही खिलाते हैं। कुछ लोभी व्यापारी इस कूडे को भी पेटियों में बंद कर और आकर्षक रंगीन लेबल लगाकर अच्छे दाम पर बेचा करते हैं।

चाय की जहाज़-यात्रा

बागानों में जो चाय की पेटियाँ पहली श्रेणी के अंक से पास होती हैं उन्हें जहाज़ से विदेश-यात्रा का सौभाग्य मिलता है। दूसरे दर्जे की चाय को हमारे देश के ही संभ्रान्त परिवारों की मेज़ पर जगह दी जाती है। तीसरे दर्जे की चाय चाय के ढाबों में हमें स्ट्रांग चाय की शकल में प्राप्त होती है। केरल के बागानों की चाय कोच्चिन के बाज़ार में हर हफ़्ते नीलाम के लिए पहुँचती है। असम के बागानों की उपज कलकत्ते के बाज़ार में आती है। नीलाम में बडी-बडी चाय कंपनियां अपने स्वाद-परीक्षकों के साथ भाग लेती हैं। यहीं पर बिकती चाय कुछ तो विदेशों को निर्यात होती है।

बडी-बडी चाय कंपनियाँ अपने बागानों की चाय के अलावा बाजार से भी चाय खरीदती हैं। इस माल को अपनी-अपनी खास मिश्रण प्रणालियों से संसाधित (ब्लेंडिंग) करती हैं। ग्राहकों की रुचि, लोकप्रियता, स्वाद आदि इसकी कसौटी हैं। ऊँचे दर्जे की पत्तियों का रस गाढा नही होता। मगर उसका स्वाद व सुगन्ध मन को मोहित करते हैं। सस्ती चाय के विक्रेता चाय में रंग ज़्यादा घोलते हैं। स्वास्थ्य केलिए अहितकारी रंग की मिलावट में भी लोभी व्यापारी नहीं हिचकते। ऐसी चाय पर टूट पडनेवाला ग्राहक समाज चाय के ढाबों में मिलता है। ऐसा ग्राहक आते ही आवाज़ देता है—'अरे भई, ज़रा इस्ट्रांग चलाना।'

जब इससे भी वडी बडी चीज़ें मस्ती से हलक के नीचे उतारते हैं तब चाय निर्दोष है।

विदेशों में चाय

भारतीय चाय का आयात करनेवाले विदेशी राज्यों में इंग्लैंड, अरब गणतंत्र, रूस आदि प्रमुख हैं। एंजिनीयरिंग के सामान के बाद चाय ही सबसे अधिक मुद्रा निर्यात से कमाती है। १९७७–७८ में निर्यात सबसे अधिक था, मूल्य भी बढा था। इससे देश के लोगों को चाय मिलना मुश्किल होता चला तो सरकार ने निर्यात पर कुछ बंधन लगाया। अतिरिक्त शुल्क लगाया। फल यही कि निर्यात घटने लगा। भारतीय चाय को अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार में चीन जैसे देश से प्रतियोगिता लेनी पडती है। इसका सामना करने नये-नये तरीके अपनाये जाते हैं। उनमें एक है—तुरंत चाय और टी बैग। टी बैग अब भारत में भी चलने लगा है। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर चाय का व्यापार संभालने के लिए अंतर्राष्ट्रीय चाय समझौता। [१९३३ई०] हुआ था। अंतर्राष्ट्रीय टी मार्केट एकसपान्शन बोर्ड की गठन (१९३५) भी इसका उपाय है। देश की भीतरी चाय विक्री, उत्पादन आदि के नियंत्रण एवं प्रोत्साहन का कार्य भारतीय टी बोर्ड करती है। चाय-बागानों के तकनीकी विकास के लिए दक्षिण में 'उपासी' बनी है। इसके अनुसंधान-केन्द्र काफ़ी सक्रिय हैं।

चाय-श्रमिकों का सुधार

श्रम के सस्तेपन के पीछे चाय बागान पहले बदनाम थे। कंकाणि पुकारे जानेवाले बेरहम निरीक्षकों की धाँधलियाँ चलती थीं। किन्तु श्रमिक वर्ग की सजगता, भारत की स्वाधीनता आदि के कारण हालत बहुत सुधर गई। प्लेन्टेषन अधिनियम [१९५१] टी एकट [१९५३] आदि से श्रमिक वर्ग के कल्याण के बहुत से उपाय किये गये हैं। अब तो बागानों के कर्मचारियों के न्यूनतम वेतन पर कानूनी विधान हो रहा है। इस नये विधान से बागानों के मालिकों को जो समस्याएँ हो रही है, उनके बारे में वे सरकार को बता रहे हैं। उनके सामने बिक्री,

अंतर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता, मूल्य आदि कई सवाल हैं। दूसरों के सामने अपने पेट का सवाल है।

देश-देश में नया स्वाद

आज चाय अंतर्राष्ट्रीय स्तर का पेय हो चुकी है। विदेशों में चीन और जापान में चाय ख़ास महत्व रखती है। जापान में चाय का समारोह धूमधाम से चलता है। इंगलैंड के चाय-प्रेम की बात तो कही जा चुकी। भारत में भिन्न-भिन्न राज्यों में चाय बनाने की कितनी ही विधियाँ चलती हैं! गुजराती लोग इलायची से मिश्रित चाय पिलाते हैं। बंबई पूना में ईरानी चाय की बडी मांग है। कलकत्ते की अदरखवाली चाय का जो स्वाद है वह कुछ और है। तमिलनाडु, आंध्र आदि राज्यों में काफी की तरह चाय का भी काढा (डिकाक्शन) तैयार किया जाता है। बाद में दूध मिलाकर पिलाते हैं। केरल में समोवार का खौलता पानी प्रत्येक बार चाय की धूल व पत्तियों में डालकर गाढो चाय तैयार की जाती है। इसे तमिलनाडु में मिलिटरि चाय या केरल चाय कहते हैं। दक्षिण में सबसे अधिक चाय पीनेवाले केरल में हैं। शेष लोग काफी ही अधिक पसंद करते हैं।

बिना दूध के चाय भारत में कम सम्मान पाती है। मगर जापान में बिना दूध के चाय चलती है, नींबू-सहित भी। चाय काफी से कम हानिकारक मानी गई है। इसमें ४% काफीन और वैटमीन बी का अस्तित्व माना गया है। बुखार में तुलसी की पत्तियों की चाय तो भारत की सनातनी चिकित्सा विधि में स्वीकृत है ही।

चाय पिलाइए, क़ाम निकालिए

व्यावहारिक जीवन में चाय का योग विदित है। आप आफीस से जब थके मांदे लौटते हैं तब होशियार श्रीमती बढिया गरम चाय व समोसा आप की सेवा में पेश करती है। आप इतने खुश हो जाते हैं कि श्रीमती की महँगी माँगें भी चुपचाप स्वीकार करते हैं। बडी कंपनी के स्थानीय मैनेजर बडे मालिकों के आगमन पर उन्हें बढिया चाय की

दावत देते हैं कि मालिक खुश होकर उनका वेतन बढ़ाए। चाय बिछुड़े दोस्तों और अनजान सज्जनों के दिल जोड़ देती है। सार्वजनिक प्रीतिभोजों की बढ़िया चाय व्यवस्थापकों के सौ गुनाह माफ़ करा देती है। साथ ही दूसरे सौ गुणों में एक अवगुण यह भी है कि हम इसके गुलाम हो बैठे तो यह हमें पागल बना देती है। जिन्हें मुँह अंधेरे चाय पीने की आदत है उन्हें चाय न मिले तो सारे घर पर शामत आ जाय। यों जो सज्जन घर आये मेहमान को चाय के लिये न पूछे वह अशिष्ट माना जाएगा। यह रिवाज़ विशेष रूप से उत्तर भारत में चालू है। वहाँ घर घर में चूल्हे पर केतली हमेशा गरम रहती है। मेहमानों को चाय पिलाते-पिलाते घर की मालकिन जब तंग आती है तब चाय को कोसती भी है। मगर उस थकान को दूर करने के लिए भी चाय का ही आसरा लेना पड़ता है।



होली और ओणम

भाग्य बली एवं विलक्षण होता है। इसीलिए कुन्ती देवी ने उत्तरा को उचित आशीर्वाद दिया था—'भाग्यवन्तं प्रसूयेथाः।' संसार में कठिन बलिदान करने पर भी कोई-कोई याद नहीं किए जाते। उलटे दूसरे की भलाई करने-कराने वालों को ईर्ष्यावश मिट्टी में मिला देना अपना व्रत माननेवाले फूलते-फलते हैं। किन्तु समय का जौहरी तो सबको परखता है और उचित न्याय करता है। हाय री अभागिनी होलिका, तुमने भाई के प्रति ममता निबाहने की आशा में उसके शत्रु का यश गानेवाले बालक को भस्मसात् करने के लिए अग्निपरीक्षा दी। भाग्य की लीला! तुम जल गई और बालक बच गया। यही बात होती तो गनीमत थी। तुम इतनी अभागिनी रही कि अब तक तुम्हारी बदनामी खतम नहीं हुई। अब भी प्रतिवर्ष बच्चे, जवान, औरतें और बूढ़े तुम्हारी मूरत बनाकर उसे गाली से, थूक से, और जाने क्या-क्या से अभिषेक करते हैं—उसे जलाते हैं, चारों तरफ़ चक्कर लगा-लगाकर अट्टहास करते हैं। उत्तर भारत में गली-गली में यह होली-काण्ड चलता है।

भाग्य की लीला का उलटा रूप देखिए। प्रजारंजन विधिवत् करते हुए यज्ञ-याग आदि से अपनी महिमा की सार्थकता देते असुरराज वैरोचनि (महाबलि) ने किसी का अहित नहीं किया था। उनके यश के प्रति ईर्ष्यालु देवताओं की प्रार्थना के कारण भगवान् महाविष्णु को कपटलीला करनी पडी। अनिच्छापूर्वक ही सही, उन्होंने वामन-वेश धारण किया। सम्भव है, अपने गलत काम की बात सोचते-सोचते वे स्वयं सिमट कर वामन हो गए हों। अग्निमुख और पवित्र कहलाने वाले देवों के लिये कपट की मूर्ति बन कर नारायण ने तीन कदम की मिट्टी

महावलि सम्राट से माँगो। वे छल से अपरिचित थे। हँस कर कहने लगे कि कैसी वेतुकी याचना कर रहे हो। आचार्य शुक्र ने शिष्य को सावधान किया कि यह वटु छली है और तुम्हारा सर्वनाश करना चाहता है। मगर धन्य हो असुरेश्वर महावलि, तुमने जान-बूझकर अपना सर्वस्व शत्रु को दिया। भुवन के अधीश्वर ने तुम्हारे आगे हाथ पसार कर भिक्षा माँगी थी। तुमने सर्वस्व देकर उन्हें हमेशा के लिए बौना बना दिया। सुरराज को फिलहाल सम्पत्ति जरूर मिली। पर वह हमेशा के लिए तुम्हारी तुलना में कायर एवं अवगुणी निकला। समय के जौहरी ने तुम्हारी कीर्ति को चिरन्तन कर दिया। तुम आदर्श रंजनकारी राजा के रूप में अमर हो गए। तुम्हारे शासन का युग समता और सन्तोष का, न्याय और निश्छलता का, आनन्द और उल्लास का आदर्श युग रहा था। इसीलिए तुम प्रतिवर्ष अब ओणम पर हम लोगों को दर्शन देने केरल आते हो, तब तुम्हारी गाथा पुनः जीवन्त हो उठती है।

होली और ओणम दोनों की पुराण कथाएँ विख्यात हैं। प्रथम में असुर की धूर्त्तता की गाथा है तो दूसरी में उसके आदर्श बलिदान की कथा है। फरक इतना जरूर है कि महाबलि की स्तुति असुर के रूप में न करके आदर्श महादानी सम्राट के रूप में की जाती है। ये दोनों कथाएँ मानव-प्रकृति के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डालती हैं—दूसरों के अहित के लिए अपनी जान निछावर करना और दूसरों के हित के लिए अपनी जान निछावर करना। होली-उत्सव पहले पक्ष का प्रतीक है और ओणम दूसरे पक्ष का।

उत्तर भारत और केरल में कितने ही त्योहार-मेले होते हैं। फिर भी होली और ओणम की जो सामान्य भूमिकाएँ हैं वे विशेष उल्लेखनीय हैं। हमारे अधिकांश पर्व पुराणो से मूल तत्व ग्रहण तो करते हैं, मगर जन-मानस उन्हें आंचलिक रूपों में आगे बढाते हैं। इनके उल्लास-उत्सव और आचरण का ही स्वरूप आगे चलकर महत्व धारण करता है। उत्सव का धार्मिक पक्ष सूक्ष्म और थोडे से बुजुर्गों तक सीमित रहता है। बहुमत का सम्बन्ध तो उसके आनन्द-पक्ष से है। स्त्रियों और

बुजुर्गों से सुनते सुनते हम लोग होलिका राक्षसी और उसके दहन की कथा से परिचित रहते हैं। अधिकतर लोग यही समझते हैं कि होली गीला-सूखा रंग खेलने, नये कपड़े पहनने, मालपुआ-मिठाई खाने और बन्धु-मित्रों से मिलने का त्योहार है। चौकों और चौराहों पर, गलियों के मोड़ पर होलिका-दहन की परम्परा भी प्रचलित है।

ओणम की पौराणिकता तो अत्यन्त सूत्र रूप की है। इसे केरल में महाबलि के पधारने का दिन मानने की परम्परा ही इसके मूल में है। शेष सब विस्तार केरलीय लोक-संस्कृति का विकसित रूप ही है। ओणम के देवता तृक्काक्करप्पन (तृक्काक्करा गाँव के देव) हैं। उनकी मूर्ति मिट्टी से बना कर गोबर से लीप, घर के आँगन में प्रतिष्ठित की जाती है। इसी देवता के स्वागत-सत्कार के उपलक्ष्य में दस दिनों तक फूलों की रंगोली सजती है। दसवें दिन देवता को शक्कर-चावल की मीठी छोटी रोटी का भोग चढ़ता है। इन दस दिनों में केरलीय हिन्दू-परिवारों का जो समाँ है, वह होली की तैयारियों के दिनों में उत्तर-भारतीय हिन्दू-परिवारों की चहल-पहल से मिलता-जुलता है। वहाँ घरों की लिपाई, कपड़ों की सिलाई और मिठाइयों की तैयारी-सब कुछ होली के आगमन के निशान हैं। केरलवासी तो बेसन घी और शक्कर के चमत्कारों से कम परिचित हैं। नेंत्रन केले की चिप्स, गुड़ और दूध की तीन-चार किस्म की खीर तक ही शुद्ध केरल का मिठाई-संसार सीमित है। वैसे उत्सव का महत्व होली और ओणम दोनों को प्राप्त है। शिक्षालय, कार्यालय, दूकान, कारखाना—सब छुट्टी देकर उत्सव में सहयोग देते हैं।

दोनों त्योहारों की प्राकृतिक भूमिका समान है। भारत के अधिकांश पुत्र धरती के लाल हैं। धरती के आनन्द और उल्लास के समय वे भी आमोद-उल्लास मनाते हैं। हहराती शीतलहरी के थमने के बाद वसन्त की प्यारी झलक आम के बौरों में, अशोक के फूलों में और प्रायः सभी पुलकित तरुओं में दिखाई देती है। नये वर्ष में मन की उदासी की जगह उमंग उमड़ आती है। ऋतुओं के परिवर्तन की यह छटा उत्तर भारत में जिस प्रकार सुलभ है उस प्रकार दक्षिण में—खासकर केरल

में नहीं मिलती। यहाँ तो वर्षाकाल, मद्धिम काल और ग्रीष्मकाल-तीन ही मौसम हैं। कटकमास केरल में वर्षा का वरदान लाता है, पर यह वरदान बढ़-बढ़ कर अभिशाप होता है और लोग सिंहमास की उत्सुक प्रतीक्षा में अधीर रहते हैं। नया केरलीय वर्ष सिंहमास में प्रारम्भ होता है। सुहावना मौसम, सुनहली धान की बालियों से भरा घरबार, साग सब्जी की झाँकी हर दिशा में-- किसान और खेत का मालिक— सबकी तिजोरी में चाँदी होती है, ओठों पर मोती भी।

होली और ओणम के पर्वों पर लोक-मानस की प्रतिक्रिया एक-सी रहती है—मन में मस्ती, कण्ठ में सरगम, पैरों में पायल की रुनझुन और भुजा में फडकन। होली पर किशोरी-किशोर बहुरंगीन पिचकारियों से एक -दूसरे को रंग-विभोर कर देते हैं। युवतियां और युवक रंगों की पिचकारी के बहाने एक-दूसरे के दिल का रंग भरते और हरते हैं। प्रौढों की दशा कुछ गम्भीर होने के कारण वे सूखे रंग से परस्पर स्वागत और आलिंगन कर लेते हैं। यह शिष्टता की लक्ष्मणरेखा जब विभिन्न कारणों से टूट जातो है तब रावण की लीला शुरू होतो है और लंका-काण्ड का प्रसंग आता है। यह अधिकतर सरल देहाती हुडदंग होता है। किन्तु, मन की उदारता एवं हास्य-चेतना की कमी से जनित हिंसात्मक मनोवृत्ति भी कहीं-कहीं होली के रंग में भंग कर देती है। होली के दिन सडकों पर, खास कर मसजिदों के पास हथियारबन्द सिपाहियों को देखकर हमें शरम भी आती है।

ओणम तो प्राय: शान्तिपूर्ण उत्सव होता है। व्यावहारिक दृष्टि से यह चार दिनों का उत्सव है—उत्तराषाढ़, श्रावण, (मुख्यपर्व) श्रविष्ठा और शतभिषक्। जब केरल इतनी नागरिक मज़दूर-सभ्यता से आक्रान्त नहीं था, किसान और भूस्वामी का सम्बन्ध पारिवारिक-सा मधुर था, तब चारों दिन दावत और चहल-पहल होती थी। किसान भूस्वामी को साग-सब्जी और फल की भेंट चढाते थे। भूस्वामी उन्हें नये कपडों की भेंट देते। गृहस्वामी घर के सारे सदस्यों को नये कपडे देते। साधारण दिनों में केरल का भोजन एकदम सादा रहता है। किंतु

ओणम के दिन षड्‌रस भोजन मिलता है। युग के बदलते-बदलते पुराने सादे कपडों की जगह भड़कीले रंगीन कपडे आ गए हैं।

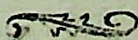
होली और ओणम असल में मिलन के उत्सव हैं। बिछुडे हुए बन्धु और मित्र इस पर्व पर मिलते हैं। परिवार की विघटनशील वृत्ति के बढते-बढते पूरे परिवार के सदस्यों के मिलने के लिए ओणम और होली ही सुनहला मौका देते हैं। निजी स्वार्थ के भँवर में फँसे हुए अभागे स्त्री-पुरुष इसको भी ठुकराने में शान समझते हैं! होली के मिलन में जो आत्मीयता है, ठेठ देहाती मुद्रा है, गले लगाने का जो खुलापन है, वह ओणम ही क्या, किसी दूसरे पर्व में नहीं मिलता। यों, उत्तर भारत के दूसरे पर्व रक्षाबन्धन में किसी भी सहृदय को बहन के पवित्र प्रेम की भेंट देने की जो अद्भुत ममता है, वह अन्य किसी पर्व में मिलना मुश्किल है। ओणम की विशिष्टता उसकी निश्छल ग्रामीणता में है। दफ़तरों, कारखानों के बडे बाबू भी स्टार होटलों के लंच में वह मजा कहाँ पाएँगे जो ओणम के दिन अपने घर पर बन्धुजनों के साथ केले के पत्ते पर पापड़ केला और खीर का भोजन करने में मिलता है।

होली का उत्सव होली के गान में, नाच में, बाज़ार में, शाम की नाव-यात्रा में, मन्दिरों के दर्शन में, कई दिशाओं में विस्तार पाता है। राधाकृष्णन की होली कथक-ओडिसी आदि अनेक नृत्य-शैलियों में प्रस्तुत होती है। साहित्य को भी होली का बहुमुखी योगदान प्रसिद्ध है। होली है तो बुर्ज्वा संस्कृति की चीज़, मगर वर्तमान फिल्म-संसार होली के अभाव में सूना-सूना रहता। ओणम का पूरा उल्लास गाँवों में ही अधिक पाया जाता है। ओणम के लोकगीत मशहूर हैं। नाव की दौड के लिए जो खास 'वंचिप्पाट्टु' धुन चली है, उसके ताल और लय ओणम के दिन केरल की नदियों-झीलों में सुनाई देते हैं। केरल की श्वेताम्बरा किशोरियाँ और महिलाएँ भी ओणम के खास नृत्य तिरुवातिरक्कलि में अपना मानसिक उल्लास पाती हैं। ओणम के अन्य लोकनृत्य भी हैं। जिस प्रकार होली मनाने की परम्परा गाँव-गाँव में कुछ बदलती है, उसी प्रकार ओणम के विनोद के विभिन्न रूप विभिन्न स्थानों पर प्राप्त होते हैं। लोक-साहित्य और शिष्ट साहित्य दोनों में

ओणम का योगदान महत्वपूर्ण हैं। केरल के कवि कुंजुरामन नायर तो ओणम के कवि ही कहलाते हैं।

होली और ओणम सचमुच ऐसे पर्व हैं जो हमारी परम्परा की स्मृति ताजी बनाए रखते हैं। दिल से दिल मिलानेवाली होली ग्राम के सुहावने और सरल वातावरण की सुगन्ध का अनुभव कराने वाला ओणम—नये तथाकथित बौद्धिकतावादी और महानागरिक जीवन के रेगिस्तान के नखलिस्तान हैं। मगर आजकल इन पर्वों की वाणिज्यिक सम्भावनाओं पर विचार चल रहा है। ओणम को पर्यटक उत्सव बनाकर अधिकाधिक पर्यटकों को केरल निमन्त्रित किया जा रहा है। गत वर्ष लाखों रुपए खर्च कर ओणम-सप्ताह सरकारी स्तर पर मनाया गया। इस वर्ष भी यह कार्यक्रम आयोजित है। सितम्बर के दूसरे सप्ताह में केरल आनेवाले कलाप्रेमी यात्रियों को नयन-महोत्सव प्राप्त होगा। उस उत्सव में केरलीय ललित कलाओं, धार्मिक कलाओं और नये नाटकों को प्रस्तुत करने का मौका मिलेगा। कलावन्तों को प्रोत्साहन देने की यह योजना श्लाघनीय है। महँगाई से घुटते-घुटते परेशानी में दिन बिताने वाले नागरिक और देहाती इन कलाओं से दिल बहलाते हुए अपना गम कुछ भुला भी सकते हैं। फिर भी ओणम-पर्व के पीछे जो श्रद्धा-गरिमा है, जो पवित्र संकल्पना है, वह क्या नष्ट नहीं होती? अपने उत्सवों को बेचकर पर्यटकों से धन कमाने की हमारी व्यावसायिक सूझ और स्वार्थभावना देख महाबलि सम्राट खुश तो जरूर नहीं होंगे। शायद समारोह के संयोजक अफसर पहली पंक्ति की एक कुरसी का कांप्लिमेंटरी टिकट महाबलि को देकर बात समाप्त कर दें।

सम्भव है, उत्तर भारत भी केरल से प्रेरणा ग्रहण कर होली के उत्सव को पर्यटकीय आनन्द का उत्सव बना दे और व्यावहारिक कुशलता से सरकारी खजाना भर दे या लाखों का खर्च करे। यदि अभी ऐसा कुछ चल रहा है, तो उसकी जानकारी मुझे नहीं। क्षमा-प्रार्थी हूँ।



आज लहरों में निमंत्रण

हहराती शीतलहरी को नव बसंत भुला देता है। पर वसन्त की चहलपहल ग्रीष्म की चपेट से चें बोलती हैं। वर्षा तो ग्रीष्म को पानी में डुबो देती है। मौसमों की यह बदली धरती के लिए ही नहीं, धरती के लालों के लिए भी सहज हो चुकी है। जिसने केरल के पुराने राजशासन के दिन देखे और अब स्वतंत्र केरल के परिवर्तनशील दिन देखता रहता है वह इस नियम को प्रणाम किये बिना रह नहीं सकता। वर्तमान युग में सचिवालय और विधायक निवास के दृश्य देखते हुए प्रासंगिक रूप में त्रिवेंद्रम के पूर्वी क़िले की अतीत गरिमा स्मरण आती है। पूर्वी क़िला शब्द यद्यपि प्रयुक्त है तो भी उसका मतलब क़िले के पूर्वी फाटक से है। पुरानी ट्रावंकूर रियासत के शासकों का राजमहल और कचहरी आदि विशाल क़िले के भीतर ही थे। क़िले के प्राचीर अब भी हैं, राजमहल भी हैं। इस फाटक के ऊपर दोनों ओर दो बुर्ज जैसे हैं। पुराना वैभव स्मरण कराने वाले इस फाटक पर शाम सबेरे नगाड़ा बजता था। संतरी हर घण्टे पर घंटा बजाकर क़िले के निवासियों को समय की सूचना देता था। मगर आज नये युग के लोगों के लिए पूर्वी किला सिर्फ़ नगर-सेवा-बसों का प्रमुख अड्डा है। यहीं से नगर-सेवा प्रारंभ होती है।

युग-परिवर्तन का और एक दृश्य इसी पूर्वी किले पर मिलता है। जहाँ पहले सभी लोग तीर्थाटक के रूप में किले के भीतर आते थे वहाँ आज बहुत सारे लोग नये तीर्थों की ओर जाते हैं। ऊँचे गोपुर की सुनहली शोभा से वे कम आकृष्ट होते हैं। वे आज लहरों का निमंत्रण स्वीकार करना अधिक पसंद करते हैं। पूर्वी किले के स्टैंड से कोवलम

समुद्र-तट की बस बराबर मिलती है। पर्यटन विभाग की बस के अलावा टैक्सियाँ भी खूब चलती हैं।

दक्खिनी नगर-भाग मणक्काड

लखनऊ में 'गंजों' की बहुतायत है। अहमदाबाद में 'पुराओं' की। पूना में 'पेठ' ही पेठ हैं तो दिल्ली में "आबाद" बसे हैं। यों त्रिवेंद्रम में 'काड' कई हैं। 'काड' का अर्थ है वन। अब वन तो क्या, मुश्किल से ही नारियल के पेड तक जहाँ तहाँ बचे हैं। फिर भी पुराने नाम बने हुए हैं। आवास-निगमों की कृपा से नगर में 'नगरों' की उत्पत्ति हो रही है। पूर्वी किले से हम दक्खिनी तरफ़ जाते हैं तो 'मणक्काड' का कसबा आता है। 'मणल' का अर्थ रेत है। पता नहीं, नाम कैसे पडा, जो पडा सो पडा। राजशासन के ज़माने में घुडसाल और घोडों की फौज के सिपाही इसी कसबे में रहते थे। और भी कई दक्खिनी-भाई यहाँ थे जिन्हें पट्टाणी (पठान क तद्भव) पुकारते थे। जब तक नगर का नई दिशा में विकास नहीं हुआ तब तक मणक्काड की सब्जी-मंडी पूरे शहर की सब्जी-मंडी का काम देती थी। यद्यपि मुसलमान भी यहाँ रहते थे तो भी यह मुख्यत: हिन्दुओं का ही मुहल्ला रहा है। नगर के दक्षिणी खंड के एक मामूली मुहल्ले के रूप में ही इसकी हस्ती रही। लेकिन हाल ही में यह एक विख्यात देवी-मंदिर के कारण प्रमुख तीर्थ सा होता चला है।

लोकप्रिय देवी-मंदिर

नगरों के इस द्विमुखी विकास की विलक्षणता दर्शनीय है। एक तरफ़ आकाश को चूमनेवाली अट्टालिकाएँ बन रही हैं। स्टार-होटल, मदिरालय और हो सके तो कैसिनो भी बनाने की कोशिश जारी है। किन्तु उन्हीं के पीछे धन लगानेवाले लोग मंदिर-मसजिद-गिरजाघर के विकास एवं निर्माण में भी योग देते हैं। इन धार्मिक तीर्थों की संख्या भी बढ़ रही है। उनकी यह प्रकृति भारत के बाहर भी छा रही है।

मणक्काड के ही इलाके में मुख्य सडक से कुछ दूर—"आट्टुकाल की देवी" का मंदिर बना है। ('ट्ट' का उच्चारण Matter में tt के के समान है।) इधर कुछ सालों से इस वरदायिनी देवी की कृपालुता की गाथाएँ विशेष प्रसिद्ध होती आई हैं। अन्य देवी-मंदिरों के समान मंगल शुक्र को यहाँ भी भीड लगती है। अप्रैल में यहाँ जो वार्षिक नेवना 'पोंकाला' का उत्सव होता है, उसमें हजारों स्त्रियाँ भाग लेती हैं। पोंकाला द्राविडी व्रत है। इसका अर्थ है भगवान का नैवेद्य पकाना। इस व्रत की प्रक्रिया कुछ निराली है। व्रतधारिणी स्त्रियाँ इस मंदिर के पास किसी सुविधाजनक स्थान पर व्रत से पूर्व दिन रात को ही आ जाती हैं। वे स्त्रियाँ बर्तन और जलाने की लकडी वगैरह ले चलती हैं। उन्हें सबेरे स्नान करके वहीं चूल्हा लगाना पडता है। स्त्रियों की भीड इतनी लगती है कि चारों दिशाओं में काफी दूर-दूर तक चूल्हे लगते हैं, घरों के अहातों में और सडक पर भी। चूल्हे में लकडी जमाकर बर्तन भी रखकर व्रतिनियाँ पुजारी की अनुमति की प्रतीक्षा करती हैं। मुख्य पुजारी मंदिर के भोग की तैयारी के लिए चूल्हा लगाने के बाद जलती लकडी लाकर सबसे समीप की व्रतिनी का चूल्हा जला देता है। यह इशारा है। अब जलते चूल्हे से आग बारी बारी से लेते लेते अन्य व्रतिनियाँ भी जलाती हैं। भोग में गुड-मिश्रित चावल के अलावा एक खास पत्ते पर गुड और चावल का और एक पकवान भी उबाला जाता है। जो मानसिक रोगी हैं वे व्रत के भोग के रूप में नारियल-गुड आदि से मस्तिष्क के आकार का नमूना बनाकर भोग चढाते हैं। जब नैवेद्य पक जाता है तब उसको उतारने के लिए भी पुजारी की अनुमति चाहिए। पुजारी और उनके सहायक तीर्थजल छिडकते हैं। वे घूम-घूमकर प्रत्येक व्रतिनी के पास पहुँचते हैं और तीर्थ-जल से अन्न को पवित्र कर देते हैं। इसके साथ व्रत-समाप्ति होती है। स्त्रियाँ निवेद्य लेकर घर लौटती हैं और बन्धु-जनों के साथ उसे बाँट लेती हैं। सवेरे से शाम तक प्राय: निरन्न रहकर ही यह व्रत पाला जाता है। इसलिये किसी किसी को बेहोशी भी होती है। पर कुल मिलाकर इस व्रत का विधिवत पालन होता है। इस उत्सव का महत्व इतना बढा है कि सरकार ने

इसे स्थानीय छुट्टी का दिवस माना है। व्रतार्थियों के लिए खास परिवहन की व्यवस्था की जाती है। भीड संभालने को पुलिस का अच्छा प्रवन्ध रहता है। इस नेवते की लोक-प्रियता बढती जा रही है। अन्य मंदिरों में भी इसका अनुकरण होने लगा है।

मणक्काड पहले कम आवाद भले ही रहा हो, पर आज नये फैशन के कंक्रीट भवनों की शान दिखाता है। केरल में पिछले दस वर्षों से गल्फ़ देशों से आनेवाले पैसे का प्रताप अवर्णनीय है। वही इन विशाल अट्टालिकाओं का मुख्य स्रोत है। मणक्काड में और कोई दर्शनीय स्थान तो नहीं है। फिर भी 'कलिप्पानकुलम' नामक एक तालाव का उल्लेख हो सकता है जो ऐतिहासिक कम, पर जनश्रुतियों पर आधारित अधिक है। कहा जाता है कि ट्रावनकोर की उमयम्मा राणी के प्यारे वच्चों को धूर्त्त सेवकों ने इस तालाव में खेलाने के वहाने डुबोकर मार डाला था। इतिहासकार इस घटना को कपोल-कल्पना कहते हैं।

परशुराम मंदिर

हम नगर-निगम की सीमा के बाहर निकलकर गाँवों से जा रहे हैं। पर आप नहीं पहचान पायँगे कि ये गाँव हैं। उत्तर भारत की गाँव की संकल्पना केरल में बिलकुल नहीं है। हम केरल को गाँवों का बाग पुकार सकते हैं या बागों के गाँव। हम जिस प्रमुख गाँव में अव पहुँचते हैं वह 'तिरुवल्लम' कहलाता है। तिरु=श्री और वल्लम= शायद वल्लभ शब्द से संबन्ध रखता है। परशुराम द्वारा समुद्र से निकाली भूमि होने के कारण केरल को परशुराम-क्षेत्र कहते हैं। तिरुवल्लम अपने निराले परशुराम मंदिर के लिए विशेष प्रसिद्ध है। वैसे, यहाँ के मंदिर में त्रिमूर्ति प्रतिष्ठित हैं, पर विशेष रूप से परशुराम की शिलामूर्ति विराजती है। इस मंदिर का संबन्ध ट्रिवेंड्रम के विख्यात श्रीपद्मनाभ मंदिर से भी हैं। वहाँ छमाही उत्सव के समय तिरुवल्लम में भी उत्सव चलता है। उत्सव-समाप्ति के स्नानार्थ श्रीपद्मनाभ के साथ तिरुवल्लम के देवता को भी समुद्रतट ले जाते हैं। ट्रावंकोर शासकों के दिनों का यह पुराना क्रम अब भी जारी है। त्रिवेंद्रम नगर

के निवासी हिन्दू तिरुवल्लम का स्मरण पितृजनों के अमावस का बलि-पिंड देने योग्य पवित्र तीर्थस्थान के रूप में विशेष रूप से करते हैं। यहाँ करमना नदी व किलि नदी का संगम होता है। इस नदी-संगम पर आषाढ़ के अमावस पर पितृतर्पण करनेवालों की भीड लगती है। यह पढकर आज उत्तर भारत के तीर्थों की सी कल्पना मत कीजिएगा। केरल धार्मिक श्रद्धा रखते हुए भी उसमें बह नहीं जाता। दूसरे, नई पीढी धार्मिकता से बढकर बौद्धिकता व नागरिकता को अधिक पसंद करती जाती है।

केरल का प्रमुख फिलम-निर्माण-केन्द्र

युवा पीढी तो बिहारी को आदर्श पुरुष मानती है। उन्हें तंत्रीनाद, कवित्त रस और सरस राग में सब अंग डूबने का लोभ रहता है। अब तो सरस राग के बदले 'फिल्म राग' कर लें तो उचित लगे। इसे कुछ गलत नहीं कह पाते क्यों कि हर आदमी वय की उस देहली को पार किये विना नहीं बढता। पार करने के बाद उसे मन ही मन वहीं लौटने और रहने की इच्छा भी होती है। ययाति की कथा यही बतलाती है। अब युवा पीढी का सबसे प्यारा मनोरंजन फिल्म है। यह अंतरभारतीय ही नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय तथ्य सिद्ध हो चुका है। उल्लेखनीय है कि केरल फिल्म निर्माण में अन्य प्रदेशों से प्रगति कर चुका है। मलयालम में प्रतिवर्ष सौ से सवा सौ तक फिल्में बनती हैं, जिनमें रंगीन फिल्मों की संख्या बढ़ रही है।

जहाँ फ़िल्म निर्माण की हर प्रविधि के लिए मद्रास के चलचित्र निर्माण केन्द्रों पर निर्भर रहना पडता था वहाँ अब केरल में ही आलप्पी और ट्रिवेंड्रम पर निजी क्षेत्र में तीन चार स्टुडियो बन चुके हैं। ट्रिवेंड्रम पर सुब्रह्मण्यमजी का "मेरीलैंड" और आलप्पी पर कुंचाक्को का 'उदया' सबसे प्रथम केरलीय फिल्म निर्माण केन्द्र हैं। चित्रलेखा, उमा, तरंगिणी आदि नये नये स्टुडियो बन चुके हैं। सबसे नया सार्वजनिक क्षेत्र का चित्रांजलि स्टुडियो तिरुवल्लम में है। उसके स्थापक इसमें कई नई सुविधाएँ होने का दावा करते हैं। विशेषज्ञ ही इस दावे पर सही सम्मति

दे सकते है। केरल में फिल्म निर्माण का विशेष अध्ययन करनेवाले युवकों की संख्या भी बढ़ती रहती है। ऊँचे दर्जे की फिल्में बनाकर देशी विदेशी पुरस्कार पाये हुए सर्वश्री रामु कार्याट, श्री० अरविंदन, अडूर गोपालकृष्णन आदि केरलीय हैं।

वज्र से कठोर, फूलों से कोमल प्रकृति

तिरुवल्लम से हम आगे बढते हैं तो भवनों की संख्या कम होती जाती है। प्रकृति का पूरा विलास नजर आने लगता है। करुणामयी प्रकृति और पुरुषार्थी मानव की सहकारिता के चमत्कार यहीं देखिएगा। दाईं ओर प्रकृति की गोदी में नारियल, सुपारी, कटहल और आम के पेडों का पूरा राज है। लंबे-लंबे नारियल और सुपारी के पेड पवन के झोंके खाकर मस्ती से झूलते हैं। तरुगण के सरसराते पत्तों से सरगम सुनाई देता है। फल देने में ये परस्पर होड लगाते हैं। मगर यहीं अन्यत्र-खासकर सडक की बाईं तरफ कठोर शिलाएँ-ऊँची चट्टानें दिखाई देती हैं। जैसे एक ही माता के कुछ बच्चे बडे कोमल, सुशील निकलते हैं तो दूसरे धूर्त। नहीं तो प्रकृति यहाँ अपनी दोनों सूरतें दिखाती कहती है--मैं वज्र से कठोर हूँ, फूलों से कोमल भी। वह अपने पुत्र मानव को शायद प्रेरणा देती है कि तुम मेरी शिला लेकर रहने का घर बनाओ और अन्न, फल लेकर भोजन की व्यवस्था कर लो। तुम हथौडा छेनी लेकर मुझे काटते चलो। डैनामिट लगाकर मुझे फोड लो, मेरी कोई आपत्ति नहीं है। इस विशाल भूभाग की कृष्ण शिलाएँ नगर की अट्टालिकाओं की नींव बनी है, पर दंभी नागरिक कहाँ मानते हैं कि हमारी जड हर दृष्टि से गाँव में है।

इतिहास का स्मारक नया बंदरगाह

अब हम कोवलम की तरफ़ बढ़ रहे है। यद्यपि रास्ते में दो चार और गाँव आते हैं तो भी वे नगण्य हैं। पूरा क्षेत्र कोवलम के सामान्य नाम से पुकारा जाता है। असल में यह सडक मुख्यतः विषिञम नामक वन्दरगाह को जाती है। ट्रिवेंड्रम नगर से २६ कि. मीटर दूर दक्षिण

में स्थित विषिञम का इतिहास बहुत पुराना है। इस बंदरगाह से जलयान विदेशों को माल ले जाते थे। इसलिए इस पर अपना कब्जा रखने की होड पांड्य, चोल आदि राजाओं में हुई थी। आठवीं सदी में यह दक्षिण में पांड्य और उत्तर में वेणाड के बीच में स्थित आर्य राजाओं के राज्य का मुख्य सेना-केन्द्र और नगर था। चोल व पांड्य, राज्य इसकेलिये युद्ध करते थे। इसका नाम ग्यारहवीं सदी में राजेन्द्रचोलपट्टनम रखा गया था। बाद में पांड्य राजाओं ने अपना झंडा इसपर फहराया। चौदहवीं सदी में वेणाड (ट्रावंकोर का पूर्व रूप) के वीरकेरलवर्मा ने इस पर अपना अधिकार कर लिया। उसके बाद यह ट्रावंकोर का अंग रहा है।

युगों के फेर में बिषिञम की पूरी शान बुझ गयी। इसके तट पर डच व पुर्तगाली कंपनी ने कारखाना बनाया, पर दोनों बाद में नष्ट हुए। अंग्रेज़ कंपनी ने भी यहाँ कारखाना बनाते बनाते वह इरादा छोड दिया। स्वतंत्रता--प्राप्ति के कई वर्ष बाद विषिञम के भाग्य फिर से चमकने लगे हैं। मत्स्य-बन्धन के लिए उपयोगी छोटे बन्दरगाह के रूप में इसका विकास किया जा रहा है। आधुनिक इंजिनीयर बडे भारी पत्थर डालते-डालते समुद्री दीवार और अन्य साधन जुटा रहे हैं। मगर सरकारी लालफीता समुद्रराज को भी नहीं छोडता।

विषिञम अपनी पंचायत का प्रमुख स्थान है। यह मछुआरों का केन्द्र भी है। यहाँ मुसलमान मछुआरे हैं, उनकी मसजिद है। कैथालिक धर्म माननेवाले मछुआरों की झोंपडियाँ भी हैं। उनका अलग गिरजाघर भी विराजता है। हिन्दू भी इस पचायत में बहुत हैं। समुद्र-राज की कृपा पर जीवन बितानेवाले इन वरुण-पुत्रों की दशा वर्षाकाल में दीनता की होती है। पर कई सरकारी कल्याण-कार्यक्रम इनको दशा सुधारने में सहायक हुए हैं।

कोवलम—युग की देन

विषिञम का वन्दरगाह किसी ज़माने में पूरे देश को मुग्ध करता था तो आज इसी पंचायत में स्थित कोवलम सारे संसार में बिख्यात

हो चुका है। यह भी मूलत: मछुआरों की ही वस्ती है। इतिहास का चमत्कार देखिए--जो किसी युग में वैभवशाली रहता है वह कालान्तर में गरीब हो जाता है। उसी का पडोसी अनुकूल परिस्थिति में अमीर हो जाता है। कोवलम को पचास-साठ वर्ष पहले ही यह महत्व प्राप्त हुआ। वैसे यहाँ के समुद्र पर आकाश-दीप (लाइट हौम) बन गया था। विंषिञम के बन्दरगाह के सहायक के रूप में यह बना था। कोवलम को समुद्र-स्नान की सुविधा के कारण नया महत्व प्राप्त हुआ। विंषिञम की प्रधान सडक से कोवलम की मोड शुरू होती है। यहाँ से पैदल चलें। तभी नजारे की खुशी मिले। प्रसिद्ध पर्यटक केन्द्र होने के नाते यहाँ चौडी तारपुती सडक बनी है। सडक की ऊँची सतह से समुद्र-तट की ढलान चलती है। चकराती सडक की दाईं तरफ़ छोटे-बडे नारियल के लंबे बाग हैं। लगता है कि धरती की छाती पर मरकतमाला सजी है। कोवलम की अजीव भौगोलिक स्थिति केरल के अन्य किसी भूभाग को नहीं मिली है। चट्टानों की कतारें समुद्र की ओर बढी हुई हैं। समुद्र के बौखलाये पानी को शिलाओं की शीतल गोद में बडी शांति मिलती है। समुन्दर की कोई भी भीषण लहर इन चट्टानों का कुछ भी बिगाड नहीं पाती। गोदी में सागर-जल रखे हुए, कोवलम सबको न्योता देता है--आओ, भाइयो, बहनो, समुद्र स्नान का आनन्द लो। पुराने दिनों कोई-कोई अंग्रेज व देशी धनी ही कभी कभार समुद्र स्नान का यह मजा लेने आते थे। समुद्र तट की ऊँची चट्टान पर साठ-सत्तर वर्ष पहले रीजेंट महारानी ने एक महल बनवाया तो राजकीय सम्मान के कारण लोगों की दृष्टि इस स्थान पर पडने लगी।

हम इस ढलते पथ से धीरे-धीरे चलते हैं तो टूरिस्ट बसें हमें पार करती हैं। हिप्पी युवक-युवती पैदल चलते नजर आते हैं। योरोपीय यात्री भारत में दो प्रकार के स्थान पर्यटन के लिए विशेष पसन्द करते हैं--समुद्र-तट या ठंड-भरे पर्वतीय स्थान। समुद्र की पुकार में योरोपवासी अपने देश की पुकार सुनते हैं। काशमीर, ऊटी जैसे पहाडी स्थान योरोपवासियों को घरेलू पश्चिमी सर्दी का आभास देने के कारण

वातवरण देते हैं। अन्य स्थानों की गर्मी ऊमस और पसीने के कारण कष्ट देती है।

वैसे, कोवलम के भारतीय पर्यटको में सारे प्रदेशों के लोग शामिल हैं। फिर भी तमिलनाडु के पर्यटकों की संख्या कोवलम-दर्शकों की संख्या में सबसे बडी होती है। केरल से तमिलनाड निवासियों का संबन्ध बैसे भी पुराना व घनिष्ठ है। फिर भी कैरलीय मंदिरों के दर्शनार्थी भक्तों और पर्यटकों के रूप में उनकी संख्या अन्य प्रदेश के भक्तों पर्यटकों की संख्या से कहीं बढकर है। परिश्रमशीलता, पर्यटन और तीर्थाटन में तमिलनाड निवासी लासानी हैं। यहाँ तक कि केरल के अनेक मंदिरों की संपत्ति मुख्यत: तमिलनाड के भक्तों की ही श्रद्धा की देन है।

शान्ति की गोदी में

कोवलम के लंबे चौडे समुद्रतट पर पहुँचते हैं तो दूसरे समुद्रतटों से इसका अन्तर सबसे पहले दर्शक-चित्त को आकृष्ट करता है। समुद्र तट पर नारियल के बाग हैं। अक्सर समुन्दर दर्शकों को देखने पर दैत्याकार लहरों की भुजाएँ उठाये भीषण अट्टहास करता उनकी ओर झपटता है। हम जान लेकर भागने में ही खैरियत समझते हैं। मगर कोवलम का सागर विशाल झील सा शांतिमय है। मानो, सागर परिवार का एक सदस्य विराग व शांति—प्रेम से इस कोने में अपना अलग जोवन बिताता हो। इसकी छोटी सी तरंगें तट-भूमि को चूमती हैं। उसे चट्टानों, टीलों की गोद में अमृतवाही केर-वृक्षों की शीतल छाया में अनुपम आनन्द अनुभव होता है।

हम समुद्र-तट पर खडे-खडे मन ही मन समुद्र दर्शन का आनन्द अनुभव करते हैं। पर माई के लाल छोटे-छोटे लकडी के लट्ठों पर (काटामारन) मछुओं को देख-रेख में जल-यात्रा का आनन्द पा सकते हैं। हँसती तरंगों के निमन्त्रण से मुग्ध युवक इन लट्ठों पर छोटा सा चक्कर लगाते हैं। कुछ तो दूर दूर तक हो आते हैं। इधर हम तरंगों को पैरों से [illegible] देखकर भी [illegible] डरते-डरते [illegible] कीकी हँसी-

हँसते हैं। कबीर मेरे लिये प्यारे कवि हैं। उन्होंने भी मेरे दिल की बातें कही हैं न ?

जिन खोजा तिन पाइया गहरे पानी पैठि ।
हो बपुरा डूबन डरा रहा किनारे बैठि ।

अपनी कायरता पर बात करते शर्म आती है क्योंकि कोवलम आकर समुद्र-स्नान न करना कोई गर्व को बात नहीं है। इस स्नान से शरीर को स्फूर्ति और मन को आनन्द मिलता है। हमारे भूतपूर्व प्रधानमंत्री श्री० लालबहादुर शास्त्री और राज्यपाल वी. वी. गिरि के कोवलम में समुद्र-स्नान का चित्र स्मरण आता है। एक टेढी राजनैतिक समस्या का हल करने केलिए आये शास्त्रीजी को समुद्र-राज ने अपने करों से शाबाशी दी थी और शीतल धारा से शांति भी।

मेहनत व आराम

कोवलम के समुद्र-स्नान का पूरा मजा उठानेवाले विदेशी पर्यटक हैं। वे दूर दूर देशों से सैकडों डालर खर्च करके समुद्र-स्नान का आनन्द लेने, विश्राम पाने यहाँ आते हैं। हम लोगों को यह पागलपन तो लग सकता है। मगर साल भर व्यापार, उद्योग या अन्य पेशों में बुरा तनाव अनुभव करने के बाद कुछ दिनों तक पूरे मन-बहलाव केलिए वे बडी से बडी राशि खर्च करने में जरा भी नहीं हिचकते। उन्हें कमाना भी आता है, खर्च करना भी।

विदेशी स्त्री-पुरुषों को, खासकर मोटी महिलाओं को नहाने की पोशाक में तैरते नहाते देख स्थानीय लज्जावती युवतियाँ एक दूसरे को देख आँखें झपकाती हैं—छिः छिः करती है। मगर भीतर से उन्हें भी ऐसी पोशाक में स्नान करने की प्रेरणा गुदगुदाती होगी। वैसे विदेशियों के जीवन-क्रम और वेशभूषा से सभी परिचित हैं और केवल कुतूहल से उनकी तरफ नज़र डालते हैं।

डालर देवो भव

पर्यटक और पर्यटन भारत के महत्वपूर्ण अंग हो चुके हैं। हमारे देश की उपनिषदों का उपदेश है—अतिथि देवो भव। पर्यटक-विभाग

नवीन उपनिषद संदेश सुनाता है—"डालर देवो भव" । जो अतिथि डालर जैसी विदेशी मुद्राएँ दे सकते हैं ऐसे अतिथियों की सेवा में लग जाओ । उनकी सेवा से हमारा विदेशी मुद्रा का कोष भर जाने की आशा है । धन के सामने अनेक वर्जनाएँ और नियम छोड़ दिये जाते हैं ।

भारत के महानगरों और विश्राम-केन्द्रों में पर्यटन विकास निगम ने कई स्तरों का आवास-प्रबन्ध किया है । कोवलम समुद्र-तट पर महल के अहाते में अशोक होटल कांप्लक्स के नाम से व्यापक तौर पर निवास का प्रबन्ध है । साधारण कमरे, पर्णकुटी की शक्ल के कक्ष, वातानुकूलित भवन, पश्चिमी शैली के आवास, अमरीकी शैली के आवास—हर अंतर्राष्ट्रीय स्तर के आवास का प्रबन्ध रहता है । ये सब काफी महँगे होते हैं, जिसके कारण भारतीय मध्यम वर्ग के लोग इन तक पहुँच नहीं पाते । पर्यटन विभाग का तर्क है कि ये विदेशी पर्यटक धर्मशाला में रोटी सेंकने लोटा तवा लेकर चलते नहीं । वे खूब पैसा खर्च करने तैयार हैं । उन्हें शानदार स्वागत चाहिए । केरलीय पर्यटन विभाग अपने अतिथियों की विशेष सेवा कई प्रकार से करता है । मोटा ताव पिलाना तो बुनियादी बात है । केरलीय चिकित्सा-विधि के अंग के रूप में मालिश की सेवा भी अब दी जाती है । अंगों का-पुट्ठों का—जो दर्द है वह इस मालिश से दूर हो जाता है । साथ ही रोगी नीरोग तथा हृष्टपुष्ट होता है । यह केरलीय पंचकर्म-चिकित्सा का अंग है । पर्यटकों केलिए शारीरिक तनाव दूर करने, पुठों अंगों की लचक बढाने और मानसिक तनाव दूर करने केलिए यह मालिश अत्यन्त उपयोगी है । उत्तर भारत की मालिश भी मशहूर है ही ।

तीस घण्टों में योगी

विदेशियों को भारत अपनी योग-साधना से आकृष्ट कर सका है । यों कहना अधिक सही है कि भारत की योग-साधना की ओर विदेशी आकृष्ट हैं और यहाँ आकर योग सीखते हैं । योग का अध्ययन भी कठिन है और काफी समय माँगता है । अतः पर्यटकों को योग का

प्रशिक्षण कुतूहल—वर्धक ही अधिक हो सकता है । फिर भी सारे भारतीय पर्यटकीय केन्द्रों में योग का आकर्षण विज्ञापित है ।

केरल आनेवाले पर्यटकों केलिए यहाँ की प्रसिद्ध कला 'कथकलि' भी प्रस्तुत की जाती है । रसाभिनय, सारे अंगों का चलन, कम से कम बाजों से अत्यन्त प्रभावशाली नाद-समन्वय, विशेष वेश-भूषा से अमानुष का भ्रम लानेवाले पात्रों की रचना, विशेष मंच-विधान का अभाव आदि इस केरलीय कला की विशेषताएँ हैं । इनसे विदेशी कला-प्रेमी आनन्दित अगर हो जाएँ तो इसमें कोई ताज्जुब की वात नहीं । इस पहलू का अत्यधिक महत्व देख कर अब पर्यटकों केलिए डेमोण्स्ट्रेशन (प्रदर्शन) के रूप में दैनिक कथकलि का कार्यक्रम जगह-जगह चला रहे हैं ।

कथकलि की कला का यह व्यापारिक प्रयोग एक तरफ उस का अवमूल्यन भी करा रहा है । कथकलि की कथायें वहुधा पौराणिक हुआ करती हैं और उसका मंचविधान आदि कुछ धार्मिकता रखता है । पवित्रता की सुरक्षा केलिए ही इसे मंदिरों के आंगनों में सीमित रखते थे । ऐसी कथा और कलाएँ शराब में धुत बैठे पर्यटक स्त्री-पुरुषों के सामने केवल पैसे केलिए प्रस्तुत करना सच्चे कलावंतों को बडा कष्टदायक ही लग सकता है ।

परोक्षरूप से दासता की वृद्धि

धनी विदेशी पर्यटकों के केन्द्र के पास हिन्दुस्तानी भाइयों के जाने पर केन्द्र के कर्मचारियों को हँसी आती है और उन्हें घृणा की दृष्टि से देखा जाता है। वैसे सरकार ने मध्य वर्गों के लोगों केलिये भी एक होटल का प्रबन्ध किया है । इस व्यवस्था से सरकार को पैसे मिलते होंगे । पर्यटक यहाँ आकर सुख सुविधा का मजा लूटते होंगे । किन्तु जो मानसिक गुलामी इससे बढ रही है, जो हीनता-ग्रन्थि वढ रही है उसकी ओर लोगों का ध्यान कम जाता है । 'अंग्रेज़ी हटाओ' नारा लगाना आदि मामूली उपायों से भारतीय गरिमा की स्थापना नहीं होती । भारत एक स्वतंत्र राष्ट्र है । उसे अपनी जनता का स्वाभिमान भी

बढाना है । विदेशियों को हम से वडा साबित करने का प्रयत्न जब सरकारी अनुमति से होता है तब देश-वासियों को भी विदेशियों की नकल करने और उनकी छोटी-मोटी चीज़ें खरीद कर या माँग कर अपनी नकली शान दिखाने की इच्छा होती है । सच्चे भारत का आकर्षण उसके शानदार होटलों में नहीं हो सकता । लेकिन वर्तमान रवैया इस आवाज़ को कहाँ तक सुनेगा ?

कश्मीर के हौस बोट

सरकारी पर्यटन विभाग की व्यवस्था सीमित है, महँगी है भी । अत: निजी क्षेत्र के कुशल व्यक्ति यहाँ बडे आकर्षक नामों से छोटे-छोटे होटल-लॉज चलाते हैं । ये नाम पढते-पढते कश्मीर के श्रीनगर के हौस बोटों की याद आती है । नाम बडे और दर्शन थोडे । यात्रियों से पैसे कमाने व लूटने में तो सभी कुशल होंगे ही । हिप्पी लोग खर्च कम करने के ख्याल से इन्हीं निजी होटलों का आसरा लेते हैं । उन्हें समुद्री स्नान से ही तो मतलब है । कभी-कभी अखबार में धूर्तबाजी की कथाएँ भी आती हैं । कोवलम और उसके निजी लाज स्थानीय सुखलोभी को भी आकृष्ट करते हैं । स्थानीय रोमियो भी कभी-कभी अपनी जूलीयट को लेकर यहाँ पहुँचते हैं । यहाँ तक कि "कोवलम जाना" मुहावरा बन चुका है ।

मलयालम के राम-कवि का जन्म स्थान

कोवलम का भूभाग धन्य है जिसने एक यशस्वी केरलीय रामकवि को जन्म दिया । अनुमानत: १४०० ई० में यहाँ 'आवाट्टुतुरा' नामक मुहल्ले में अय्यिप्पिळ्ळा आशान का जन्म हुआ । उन्होंने द्राविडी छंदों में 'रामकथाप्पाट्टु' रचा था । पाट्टु माने गीत है । गायन के योग्य छंदों में रामकथा की रचना इस सरस्वती-साधक का योगदान है । इनकी रामकथा ट्रिवेन्ड्रम के श्रीपद्मनाभ मंदिर के उत्सव के दिनों में एक कला-कृति के रूप में 'चन्द्रवलयम' नामक बाजे की संगति में गायी जाती थी । त्रावंकोर के शासकों के द्वारा इस ग्रन्थ की मान्यता भी

इससे सूचित होती है । केरल के रामकाव्य के इतिहास में आशान के 'रामकथापाट्टु' का अपना महत्वपूर्ण स्थान है । मगर पर्यटकों को इसका परिचय देने का कोई प्रबन्ध नहीं है । स्थानीय लोग इसको महत्व भी कम देते हैं ।

केरल का सा प्राकृतिक दृश्य थोडा बहुत गोवा में शायद मिले, पर कोवलम की तुलना कोवलम से ही हो सकती है । 'कोवलम' नामक शब्द तमिल और मलयालम—दोनों भाषाओं में है । संभव है, प्राचीन तमिल शब्द ही मलयालम में चला गया हो । तमिलनाड में भी समुद्र-तट के किसी-किसी स्थान का नाम कोवलम पडा है । परन्तु केरल का कोवलम ही अब विश्व-विख्यात है । उसका शांतिपूर्ण समुद्र-तट यात्रियों को निमंत्रण देता रहता है । अतएव बारबार वहाँ जाने की इच्छा सबको होती है ।



सादर मज्जहिं सकल त्रिबेनी

एक माँ है। वह अपने बच्चों को हमेशा प्यार करती है। बच्चे लाख बिगडें, माँ नहीं बिगडती। बच्चे माँ को काटें, पीटें, अनाथ छोडकर चले जायँ। पर माँ उनसे कभी नहीं रूठती। उन्हें कभी नहीं डाँटती-डपटती। उसका प्यार रत्ती भर नहीं घटता। वह बच्चों को खाना खिलाती है, पानी पिलाती है। धूप में छाता तानती है। अपने बच्चों के लिए वह कभी बहुत तपती है। कभी प्रेम के आँसुओं की वर्षा आठों पहर करती है। इस माँ की पहचान? यह बारहों महीने हरी मखमल की साड़ी पहनती है। सुषमा इसके अंग-अंग में संचित है। केश की तीन पालियाँ गूँथे यह त्रिवेणी की छटा फैलाये रहती है। इस माँ की उम्र? बाबा परशुराम से पूछना। यह उनकी मानस संतान जो है। अरे हाँ– मैं केरल माता की ही बात कर रहा हूँ।

यह त्रिवेणी मुझे आश्चर्य-चकित किये देती है। यह प्रतीक इसने हर दिशा में हर क्षेत्र में धारण किया है। अरब-सागर एक वेणी है। पर्वत-माला दूसरी वेणी रही और समतल धारा तीसरी ठहरी। तीनों की अलग-अलग महिमा है, जिसका वर्णन करने के विषय में केशवदास के समान कहना पडेगा कि अन्त न पावें। यह सागर रत्नाकर है जो इसकी गहराई में ढूँढे उसे मूँगा-मोती मिलेगा। इसके ज़रिए केरल आए हुए लोग रत्न न सही, रत्न-समान वस्तुएँ लेकर विदेश पहुंचाते रहे, रत्न वहाँ जमा करते रहे। नये सन्दर्भ में रत्न-ग्राहकों का आधार भी यही अरब सागर है। पर्वतमाला देश की शान है, सारी मूल्यवान वस्तुएँ देती है। समतल वेणी सब पर प्रसन्न है। वही अन्नदाता है।

प्रकृति की त्रिवेणी पर सोचते-सोचते मुझे यहाँ की धर्म की त्रिवेणी विशेष स्मरण आती है। इलाहाबाद नगर में संगम स्थान पर पहुँच कर जब हम नदी-जल की तरफ झाँकते हैं तब लगता है—दो प्रौढ महिलाएँ कभी समाप्त न होनेवाला सुख-दुःख-संवाद करती, कभी आप की जिज्ञासा पर व्यंग्य की हँसी हँसती, कभी कुछ झूमती आगे की ओर चल रही हैं। जिन दिनों पीहर से असीम भेंट ले आती हैं उन दिनों दोनों की मस्ती देखने लायक होती है। सारे हाथों में भेंट लिए प्रिय की तरफ़ बढ़ती हैं और बताती हैं—"लो, आपके ससुर ने भेंट पर भेंट दी है, अब तो मन प्रसन्न है न? वह प्रिय भी कैसा महाजन है। वह सब कुछ बेशरम होकर ले लेता है। हँसते हुए प्रियाओं को अपनी भुजाओं में ले लेता है।

हाँ, तो इस त्रिवेणी ने भारतीय साहित्य को चिरन्तन प्रतीक दे दिया है।

मैं इसी के आधार पर केरल के धर्मों की त्रिवेणी की कल्पना करना चाहता हूँ। यहाँ हिन्दू, ईसाई, इस्लाम—तीनों धर्मों की त्रिवेणी एक साथ बडे प्रेम से अग्रसर हो रही है। 'सरस्वती' अंतर्धारा है। मगर इस धार्मिक त्रिवेणी के सारे अंग प्रकट रूप से ही बढते हैं।

केरल की जनता में बहुमत हिन्दुओं का है। वे ही चिरकाल से यहाँ निवास भी करते आए हैं। उनके सबसे बडे आचार्य श्री शंकर भगवत्पाद केरलीय थे। केरल के इस बटु ने कश्मीर तक के दिग्गजों को दार्शनिक शास्त्रार्थ में हरा दिया था। यहाँ उनके प्रभाव व प्रेरणा से अनेक देवी-देवताओं के मन्दिर बने। नगर-नगर, गाँव-गांव और घर-घर में मन्दिर ही मन्दिर। यह मन्दिरों का देश है। शिव, विष्णु, गणेश, स्कन्द, देवी—इनके मन्दिर प्रमुख रहे। इनके बाद शास्ता और भगवती के लघु-मन्दिर आते हैं। गाँवों के चौपाल या नुक्कड़ में—पुराने बडे घरानों के अहातों में भी सर्प-प्रतिष्ठान पाये जाते हैं। आर्येतर द्राविड लोकदेवता माटन, यक्षी आदि के लघु मन्दिरों की संख्या बताना तो कठिन ही है। एक समय था जब कि हर धनी

गृहस्थ अपने अहाते में मन्दिर बनवाकर पुजारी से पूजा कराकर देवी-देवता के दर्शन कर लेते थे । केरलीय मन्दिरों में सबसे प्रसिद्ध हैं अनन्तशयनं — त्रिवेंन्द्रम का पद्मनाभजी का मन्दिर, गुरुवायूर का नारायण मन्दिर और शबरी पहाड़ का शास्ता मन्दिर । अन्य हज़ारों मन्दिर हैं ही । सर्वाधिक प्रसन्नता की बात यह है कि यहाँ शिवजी और विष्णु जी के महत्व की तुलना-परीक्षा कभी नहीं हुई । अपने देवता के महत्व की रक्षा कलिए किसी ने न तलवार का जौहर दिखाया, न आत्माहुति की । यों अनेक मठ-संप्रदाय भी यहाँ नहीं हुए जो आपस में टकराते । शान्ति और प्रेम रहा । यहाँ किसी कबीर को कहने का मौका कम मिला था 'आपस में दोउ लरि लरि मूवें मरम न काहू जाना ।'

पता नहीं, अरब सागर शब्द पहले-पहल किसने गढ़ा । पर अरबवासियों ने सैकड़ों वर्ष पहले से केरल को पसन्द किया । यहाँ इस्लाम धर्म का भी आगमन हुआ । उदार शासकों ने लोगों को आज़ादी दी थी और इस्लाम खूब यहाँ फैला । हज़ारों से बढ़कर लाखों की बात हो गई है । यहां प्रमुख शहरों में—गाँवों में भी मसजिदें बनीं । कुछ खास क्षेत्र, खास-खास जिलों में—इस धर्म के लोगों की बहुतायत होती गई—सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में इनकी धाक बढ़ो । अब तो व्यापार, शिक्षा, राजनीति-हर क्षेत्र में इनका स्थान महत्वपूर्ण हो चला है । यह दुखद स्थिति आई है कि धर्म के झंडे के नीचे राज-नीतिक दलबन्दी शुरू हो गई है । ऊपर से गले मिलते हैं, पर भीतर से दिल मिलने से इनकार कर देते हैं । बापू जी और लाखों हिन्दुस्तानी भाई-बहनों ने खून बहा कर जिस सांप्रदायिक विद्वेष का जहर हमेशा केलिए बुझाना चाहा था, वह अब फिर से छा रहा है । फिर भी राज-नीतिक उपदेशक जहाँ नहीं पहुँचते वहाँ साम्प्रदायिकता का ज़हर कम ही फैल पाया है । वैसे स्थान अधिक हैं और वहाँ लोगों के परस्पर दिल भी मिलते हैं और वहां प्यार की लेन देन भी होती है । मन्दिरों के मेलों में मुसलमान सौदागर बाज़ार लगाते हैं । मुहर्रम के जुलूस के दर्शनों केलिए हज़ारों हिन्दू इकट्ठे होते हैं । बड़े दिन पर सब एक

दूसरे को 'केक' की भेंट भेजते हैं। मुस्लिम होटलों में बढिया चाय केलिए सब धर्मों के लोगों की भीड़ लगी रहती है।

हिन्दुस्तान भर में ईसाई धर्म का सबसे उर्वर क्षेत्र केरल रहा है। आबादी का लगभग पाँचवाँ हिस्सा ईसाई बन्धुओं का है। कहा जाता है कि सेंट थामस सबसे पहले केरल ही आये थे और उनके शिष्यों ने आगे चलकर यहाँ ईसाई धर्म फैलाया। धर्म प्रचार और धर्म-परिवर्तन का दौर तेज़ रहा। अंग्रेज शासन एवं विदेशी राज्यों की धर्म-परिषदों की आर्थिक सहायता ने इस प्रचार की गति बढ़ाई। फल यह कि शहर शहर में विशालकाय गिरजे बने। गाँव गाँव में चौरस्तों पर भी छोटे गिरजे बने हर गिरजे के सामने मानवता केलिए सलीब का बोझ और शूलों का ताज पहने, खून बहाते हुए तथा शांतिपूर्वक प्रभु से अज्ञानी लोगों केलिए क्षमा मांगते ईसा मसीह की मूर्ति या उनके सलीब का प्रतीक मिलता है। शिक्षालय और आतुरालय की स्थापना से इस धर्म के आचार्यों ने जनता मात्र के मन से प्रेम और श्रद्धा पाई। ईसाई मित्रों ने अपने परिश्रम एवं व्यावसायिक सूझ से हर पेशे में कमाल पाया। धनी बने और सत्ता बढाई। जहाँ अधिकांश हिन्दू मानस के लक्ष्मण-परशुराम-संवाद-प्रसंग के परशुराम की तरह अपनी प्राचीन महिमा बखानते और मजा उठाते या सुस्ताते रहे वहाँ ये नवबन्धु आठों पहर परिश्रम करके आगे बढे। आज व्यापार, उद्योग, राजनीति—हर क्षेत्र में इनकी धूम है। संख्या-बल में धनी होते हुए भी हिन्दुओं में ताकत कम रही। संख्या में पिछडे होते हुए भी ईसाई बन्धुओं की साख बढी।

मगर आनन्द की बात है कि केरल में इन तीन धर्मों की त्रिवेणी बडे शांत भाव से परस्पर संवाद करती बह रही है। ज्वार नहीं आता। एक दूसरे को नष्ट-भ्रष्ट करने की शैतानी कम सूझती है। भगवान का जुलूस सामने देखकर उनकी आरती के घंटों और बाजों की आवाज़ सुनकर भी अल्लाह या ईसा मसीह के भक्तों को डर नहीं लगता कि हमारी पुकार खुदा नहीं सुनेंगे। इस सुन्दर त्रिवेणी के दो उदाहरण हैं। एक पुराना प्रतीक केरल के ऐतिहासिक ग्राम कोटुंगल्लूर

में है। यहाँ एक दूसरे के नज़दीक मन्दिर, मसजिद और गिरजा—तीनों स्थित हैं। सब का समान सम्मान है। कभी किसी का हाथ-पाँव नहीं कटा। इसका दूसरा प्रतीक केरल की राजधानी त्रिवेंद्रम के मध्य में विश्वविद्यालय के पास मिलता है। यहाँ एक शानदार मसजिद है। उससे सटे हुए मकान में गणेश जी का मन्दिर है। इन दोनों के पीछे एक गिरजाघर बना है। कोई नागरिक इसमें कोई अजीब बात महसूस नहीं करता।

आजकल हमारे देश में स्थान-स्थान पर छोटे-बडे मतलब और राजनैतिक छल-प्रपंच के पीछे द्वन्द्व और कलह के समाचार निकलते हैं। उन्हें पढकर दुख होता है। उस वक्त केरल की धार्मिक त्रिवेणी का संगम नयनों के सामने आ जाता है। तब दिल कहता है—इस द्वन्द्व और कलह का धर्म से क्या मतलब? यह तो एक मुखौटा है, पर्दा है जिसके पीछे आदमी की शैतानियत काम करती है। जैसा कि डॉ० हज़ारी प्रसाद द्विवेदी जी कहते हैं, नाखून बाहर ही नहीं भीतर भी बढ़ते हैं। क्यों बढते हैं और इनका बढ़ना कैसे रोका जाय? इसका अनुसन्धान मनोवैज्ञानिक एवं प्राणिविज्ञानिक करें तो कितना अच्छा हो!



आधी अधूरी स्मृतियाँ

दुविधा का फल मीठा

भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी का सम्मान विश्वमंच पर बढ़ानेवाले दो विश्व हिन्दी सम्मेलन *संपन्न हो चुके हैं। दोनों में भाग लेने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। खासकर जो दूसरा सम्मेलन मारिशस में चला था उसमें भारत सरकार के शिक्षा-मंत्रालय ने अपने प्रतिनिधि की हैसियत से भाग लेने का सुअवसर दिया, इसका साभार स्मरण करता हूँ। भारत से दो सौ से अधिक प्रतिनिधि गये थे। थोडे से लोगों को मारिशस सरकार ने अपने मेहमान के रूप में बुलाया। कुछ लोगों का एक प्रतिनिधि मण्डल भारत सरकार ने भेजा, जिसके नेता माननीय डा० कर्णसिंह और उपनेता माननीय डी. पी. यादव थे। विश्व-विद्यालय, स्वैच्छिक संस्थाएँ, पत्रिकाएँ आदि ने अपने अपने व्यय पर प्रतिनिधियों को मनोनीत किया। कई लोगों को सरकार ने सिर्फ प्रतिनिधित्व दिया, वे अपने अपने खर्च पर चले। शिक्षामंत्रालय के प्रतिनिधि हम आठ दस थे — सर्वश्री डा० विजयपाल सिंह, डा० प्रेमस्वरूप गुप्त, डा० बच्चनसिंह, डा० रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, डा० मुजीब रिज़वी, विष्णु प्रभाकर, राजेन्द्र यादव, उपेन्द्रनाथ अश्क और मैं।

कोई भी चीज़ आसानी से हो जाय या मिल जाय तो उसका महत्व नहीं होगा। कठिनाई के बाद मिली चीज़ अधिक मीठी होती है। अपने व्यक्तिगत जीवन में यह सिद्धान्त न जाने कितनी बार सही साबित हुआ है।

मारिशस के महासम्मेलन के परिपत्र जब आने लगे तब मैं विशेष सक्रिय नहीं हो सका था। वैसे कोचिन विश्वविद्यालय के कुलपति

---

* अब तीसरा भी संपन्न हो चुका।

महोदय शैक्षणिक उपलब्धियों का सम्मान करते हैं, मदद भी। पर अपने विश्व-विद्यालय की आर्थिक सीमाएँ मारिशस का यात्राव्यय देने में फिलहाल शायद ही समर्थ हों, इससे मैं चुप था। ऐसी ही दशा में भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय ने अपने प्रतिनिधि के रूप में भेजने का प्रस्ताव तार द्वारा सूचित किया। बहुत कम समय के अन्दर सारी बातें हुईं। बीच में कई समस्याएँ उठीं और सुलझ गईं। सरकारी प्रशासन की जटिलताओं से परिचित होने के कारण मुझे इन विषमताओं में कोई आश्चर्यजनक नहीं लगी। मानसिक तनाव तो ज़रूर हुआ। पर सभी संबद्ध अधिकारी अपनी अपनी स्थिति में लाचार थे। अंग्रेज़ी कहावत के अनुसार जो अंत में मंगलमय होता है, वह अच्छा ही होता है। समस्याओं के कारण यही स्थिति रही कि शाम को साढे छः बजे ही मारिशस का हवाई टिकट एयर इंडिया के दफ़्तर से मिला। हमारा खास हवाई जहाज दूसरे दिन सवेरे पाँच बजे के लगभग दिल्ली से बंबई जानेवाला था। निराश मन अब कुछ खिल उठा और घर को यात्रा की सूचना पक्के तार से दी कि आखिर जा रहा हूँ।

हिन्दी का त्योहार

1976,26 आगस्त की उषावेला में जब मैं अपने सह-यात्रियों के दर्शनार्थ दिल्ली के हवाई अड्डे के अंतर्राष्ट्रीय विभाग में पहुंचा तब लगा कि कोई बडा उत्सव चल रहा है। "मद्रास सेंट्रल" या बंबई के विक्टोरिया टेर्मिनस ‍‍‍‍‍‍‍ ‍‍‍‍सा दृश्य था। पंजाब के सरदारों और उनके परिवारों की भीड थी। इन्हें देखने पर इलस्ट्रेटड वीकली का लेख याद आया जिसमें विदेशों में खास कर इंग्लैंड और अमरीका में बसे पंजाबियों का वर्णन था। ये मेहनती लोग साहसी और निर्भय हैं। संसार के किसी भी कोने में काम करने तैयार हैं। पंजाबी की तरह हट्ठे कट्ठे न होने पर भी अपने दिमाग के बल काम निकाल लेने में कुशल केरलीय भी संसार के कोने कोने में रोटी की तलाश में पहुँच जाते हैं। केरलीय आजकल विशेष रूप से फारसी गल्फ़ के देशों में अधिक पहुँचते हैं। पेट्रोल के लखपति अरब देश अब मकान-निर्माण और अन्य रचनात्मक कार्यकलाप में लगे हैं। प्रतिभाशील और परि-

श्रमी लोगों को वे नौकरी देते हैं। दुबाय, अबुदाबी, ओमान, मस्कट, बहरीन आदि ऐसे ही प्रांत हैं।

देखते-देखते दिग्गज हिन्दी साहित्यकार, प्राध्यापक, उच्च अधिकारी-सब बिस्तर बक्सा लिये आने लगे। हजारीप्रसाद द्विवेदीजी के दर्शन कुछ वर्षों के बाद पुनः मिले। वही उन्मुक्त हँसी और कुशल-मंगल। भगवतीचरण वर्मा पैंट और टोपी में जल्दी पहचाने नहीं गये। डा० हरवंशलाल शर्मा स्वच्छ श्वेत वसन में मधुर मन्दहास लिये। अनेक नए पुराने चेहरे। सब टिकट चेक कराने की क्यू में खड़े हो गये। सबके होंठों पर 'डालर' थे— "डालर नहीं मिले", 'डालर मेरे पास काफी हैं" आदि। मारिशस में या तो अमरीकी डालर आप भुना सकते हैं या मारीशियन रुपए चाहिए। एक मारीशियन रुपए का मूल्य भारतीय १ रुपया ३८ पैसे है। यह बैंक का भारतीय दर है। मारिशस में भारतीय मुद्राएँ ले जाना जुर्म है। फिर भी भारत-मारिशस में इतना आवागमन होता रहता है कि वहाँ के कई हुंडी-व्यापारी व व्यक्ति भारतीय सिक्कों को मारीशियन में बदल देते हैं, लेकिन हमारा काफ़ी घाटा होता है।

गगनचारी शाहजहाँ

विमान की यात्रा करने का मौका कई बार मिला है। मगर इस सम्मेलन का समारोह कुछ और था। सब के सब नियमित जाँच आदि के बाद हवाई जहाज़ में पहुँचे। यह हवाई जहाज़ न कहलाकर हवाई महल कहला सकता था—न्यूयार्क से बंबई चलनेवाला जम्बोजेट 'शाहजहाँ'। इसमें सैकड़ों यात्री कई विभागों में बंटकर बैठे थे। विमान की बाजुओं पर खजुराहो, मदुरै आदि स्थानों की कलाकृतियाँ चित्रित थीं। सितार आदि बाजों का पार्श्वसंगीत मंक पर बज रहा था। लोग अपने खास दोस्तों के पास बैठने की कोशिश कर रहे थे। इधर एयर होस्टस उन्हें सीट दिखाकर बिठाती थी। शायद वह भी हार गयी क्योंकि भीड़ बहुत थी। अंत में उन्हें अपनी इच्छा पर छोड़ दिया गया। इस शानदार हवाई जहाज़ का मूल्य कई करोड़ रुपये है। आज हमारी सरकार को

अपने यात यात के साधन पर कितना भारी खर्च लगता है ? इसका एक उदाहरण शाहजहाँ है। इससे आमदनी तो होती है, मगर कुल मिलाकर आय से बढकर खर्च ही पडता है । पर लाचारी है । 'शाहजहाँ' की एयर होस्टसें कई थीं। फिर भी हमारे खण्ड की एक खास युवती एयर होस्टस की अब भी याद रहती है। गोरी, सुन्दर और हंसमुख—बहुत अप-टु-डेट तो नहीं। एक गोरे यात्री परिवार का खूबसूरत छोटा तेज़ बच्चा उसे बहुत भाया था—उसे कितना खेलाती थी—अपने साथ ले चलकर पेस्ट्री खिलाती थी । हमें नाश्ता कराने आयी और पूछा —चाय या "काफी" ? मैंने कहा—"काफी" । नाश्ता आ गया । शाहजहाँ का नाश्ता गरिष्ठ था—भोजन के बराबर । मैंने इस भ्रम में कि होस्टस गलती से चाय न लाये फिर दुहराया "काफी" । हमारे पास बैठे डा० विजयपालसिंह जी काफी चाय से दूर रहते हैं । उनको दूध चाहिए । हमारी ओर वह देखकर बोली—"मुझे मालूम है कि दक्षिणवाले काफी खास पसन्द करते हैं—मेरी बहन ने एक दक्षिण भारतीय से शादी की है ।" डा० सिंहजी ने कुतूहल से पूछा—"और आप ?" सहसा उस सुन्दर मुखमण्डल पर कुछ उदासी छा गई। बोली—"हम एयर होस्टसें शादी नहीं कर सकती, शादी मना है ।" इस नियम के अपने कारण तो हो सकते हैं। इस कडाई के बावजूद एयर होस्टसें काफी स्वतंत्र व्यवहार व मनोरंजन करती हैं। उनकी कमाई भी अच्छी रहती है। हाँ, उनके मन में कितनी उदासी है, यह कौन जाने ?

दिल्ली से बंबई की विमान-यात्रा में लोगों के चेहरे पहचानते और बातें करते बाहरी दृश्य देखने का वक्त ही नहीं मिला । बगल की सीट में एक अधेड भद्र महिला थीं जो न्यूयार्क से अकेले हैदराबाद आ रही थीं। उनके पुत्र अमरीका में काम कर रहे हैं । आजकल ऐसे भारतीय परिवार बढते जा रहे हैं जिनके प्रौढ माता-पिता भारत से बच्चों को देखने अमरीका जाते है । दो पीढियों के बाद वे शुद्ध अमरीकी ही रहेंगे । आगे हैदराबाद की यात्रा में तो और एक माता मिलीं । वे भी न्यूयार्क से आ रही थीं । अपने पोते आदि के चित्र ले आ रही थीं ।

उन्हें तेलुगु के अलावा और कोई भाषा भी नहीं आती। फिर भी बडे मज़े से न्यूयार्क हो आ गईं और अमरीका की बहुओं की बेशरमी पर बहुत तेज़ टिप्पणियाँ भी कर रही थीं।

डा० सुधाकर पाण्डेय

दो घंटे बीतने के पहले ही जंबोजेट बंबई पहुँच गया। यहाँ उसी दिन २७ को वर्षों के बाद पहली बार पाकिस्तान का हरियाली से रंजित विमान बंबई उतरा था। हमारें स्वागत केलिए डा० सुधाकर पाण्डेय पूरे भारतीय सनातनी वेष में मित्रों के साथ आये थे। हिन्दी क्षेत्र के एक प्रभावशाली व्यक्ति, संसद-सदस्य और हिन्दी की उन्नति केलिए दिन-रात प्रयत्नशील पाण्डेय जी ने विश्व-सम्मेलन के लिए भी बडा परिश्रम किया था।

राजनीतिक चक्कर में गठ-वन्धन, व्यक्तिगत रागद्वेष आदि बहुत हो सकते हैं। तथापि नागरी प्रचारिणी सभा का प्रकाशन-कार्य और अन्य अनेक कार्य इन्होंने अच्छे ढंग से किये हैं।

लहरों की गोद में

जंबों जेट की यात्रा के बाद आगे एयर मारिशस के 'त्रिशूल' विमान में बंबई-मारिशस यात्रा के लिए बैठ गये। यह तो उस जंबो के सामने 'बच्चा' था। करीब सौ आदमी ही थे। सरकारी सूची में मारिशस जानेवाले लोगों की संख्या काफ़ी बडी रही। किन्तु कई अडचनें, पत्राचार की देरी, लाल फीता आदि कारणों ने कई लोगों को रोक दिया था। बहुतों ने पासपोर्ट तक बना लिया था, पर जा नहीं सके थे। 'त्रिशूल' के सहयात्रियों में गृहमंत्रालय के हिन्दी निदेशक श्री सुधाकर द्विवेदी, डा० सुधाकर पाँडेय दोनों सुधाकर द्वय पास पास बैठे बीच-बीच में बातों के साथ पान का भी आदान-प्रदान करते थे। प्रसिद्ध प्रकाशक राजपाल एण्ड सन्स के श्री विश्वनाथ मल्होत्रा पीछे बैठे थे। आगे की पंक्ति में गोरखपुर विश्वविद्यालय के कुलपति डा० देवेन्द्र शर्मा थे, और भी आगे आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी। अमृतलाल

नागर, उपेन्द्रनाथ अश्क, विष्णु प्रभाकर और कई-कई साहित्यकारों का संगम रहा। आगे की एक पंक्ति में काफी भडकीले वेश में बडा जूडा और टीका-कंगन से सजी एक भद्र महिला भी बैठी थीं, जिनकी बातचीत एवं हँसी आसपास के लोगों की एकरसता दूर कर रही थी। मारिशस में इन्होंने अपने सरस वार्तालाप, बदलती कीमती साडियों और अपने हाथ की पत्रिका से बडा प्रभाव डाला था। वहीं पर उनसे परिचय हुआ। वे हैं पटना की 'चित्रेतना" की व्यवस्थापिका संपादिका और सर्वस्व श्रीमती जयंतीसिंह राठौड़।

हमारे वायुयान में दिल्ली के एक बडे विद्वान पंडितजी भी थे। बडे प्रतिष्ठित थे। अतः नाम आदि पूछने में संकोच रहा। उस पंडितजी के विषय में एक विनोद-पूर्ण प्रसंग जो हुआ, वह नहीं भूलता। पंडितजी बडे सनातनी हैं। वायुयान का नाश्ता खाना कुछ नहीं खाते। एयर होस्टस आयी और उन से प्रश्न किया कि आप क्या खायेंगे। जब उन्होंने कहा कि मुझे कुछ नहीं चाहिए तब उसका चेहरा कुछ सूखा सा हुआ। बुजुर्ग के प्रति कुछ हमदर्दी उसे हुई। उसने अंग्रेज़ी तर्ज़ की हिन्दी में कहा—'ऐसा हो तो तुम मर जाओगे। मैं तुम्हारे लिए फल लाऊँगी।" पंडितजो के पास वैसे फलों का टोकरा था। वे उसी पर निर्भर रहे। उस बहन की ममता और व्यवहार भुलाये नहीं भूलता। यह उल्लेखनीय है कि मारिशस से लौटते समय हम सबके स्वास्थ्य से अच्छा स्वास्थ्य पंडितजी का था।

प्लाइसान्स:—

जब मैं पहली वार हवाई जहाज़ में बैठा था तब पास बैठे सज्जन से कहा कि आप दृश्य मुझे ज़रा बताते जाइए। वे मुस्कुरा उठे, बोले —'भाई, यह जहाज़ हज़ारों फुट ऊपर आसमान से जाएगा। नीचे जो दीखेगा वह आप खुद देखेंगे। उनके कथन का मतलब शीघ्र ही मालूम हुआ। बहुत नीचे सफेद झाग की परतों की तरह बादलों की पंक्तियां ही दीख रही थीं। कुछ तभी दीखता जब हवाई जहाज़ अड्डे पर उतरना चाहता। जो यात्रा-विवरण मिलते हैं उनके लेखक संभवतः

पहले से वहाँ का भूगोल पढकर कुछ कल्पित करते हैं। वैसे खेत, पहाडियाँ, मकान आदि के दृश्यों की मोटी मोटी बातें लिखते हैं। मारीशस केलिए बंबई से निकला हमारा जहाज़ सीता की खोज में चले हनुमान की तरह एक ही छलांग में मारीशस जा रहा था। इस छलांग में पौने छः घण्टे लगे। बीच में सागर था।

मारीशस की घडी के अनुसार तीन बजे तक हम मारीशस के विमानघर प्लाइसान्स पहुँचे। यहाँ हमें पहले जिस होटल में ठहराया उसकी कुछ स्मृतियां अब भी हैं। 'मदारिन' चीनी नाम है। होटल भी चीनियों का है। चीनी लोगों ने मारीशस के सारे प्रमुख नगरों के व्यापार पर अपना कब्जा कर रखा है। ठीक वैसे ही, जैसे स्वातंत्र्योत्तर भारत के नगरों में सिन्धियों ने किया है। जिस समय हम पहुँचे वह शुभमूहूर्त था। उस देश के भारतीय मिनिस्टर के पुत्र का विवाह उस होटल के एक मंच पर हो रहा था। होटल के विशाल प्रांगण में मोटरों की नुमाइश थी। लाल रंग की जापानी 'टयोटो' बडी प्यारी थी। रेनाल्ट, बेन्स, इंपाला, विलसण—रंग बिरंगी मोटरें—शानदार मोटरें। यह दृश्य बडा सुहावना, पर ईर्ष्याजनक था। हिन्दुस्तान में हम भी क्यों मोटरों के निर्माण में इतनी प्रगति शीघ्र प्राप्त न करें? यही बात सूझ रही थी।

विदेश में भारत

उत्तर हिन्दुस्तान की शादी की बात करते ही शामियाना व शहनाई की बात उठती है। लाखों रुपयों की बरबादी करके अभागे कन्या-पिता का दिवाला निकालनेवाले बरातियों की याद आती है। मगर यहाँ बिलकुल सरल ढंग से सम्मेलन जैसे उपस्थित बंधुजन। बीच में मंच पर पुरोहित जी भारतीय धार्मिक रिवाज से विवाहक्रिया करा रहे थे। अंत में सबको भेंट में एक-एक पैकट सिमइया देकर बिदा किया। अत्यंत घनिष्ठ बंधुजन का बाद में घर पर प्रीतिभोज होनेवाला था। भारत में एक तरफ़ गरीबी की पुकार। दूसरी तरफ़

बेकार धूमधाम में रुपये बहा देने की मूर्खता। यह विडंबना कब समाप्त होगी ?

होटल बेलवी और मुकेश

सम्मेलन के प्रारंभ के दिन में हमें दूसरे होटल में पहुँचाया और हम वहीं अंत तक रहे। इसका नाम है "बेलवो"। यहाँ अधिकांश होटलों के नाम फ्रांसीसी हैं, दूकानों के भी। यह टापू सदियों तक फ्रान्स का उपनिवेश था। उन्होंने अपनी संस्कृति, भाषा, फैशन, रहन-सहन आदि इतना जमाया कि अब भी इसे फ्रेंच उपनिवेश बताने से लोग विश्वास करेंगे। यहाँ की राज-भाषा फ्रांसीसी थी। स्थानीय लोगों की भाषा "क्रियोली" फ्रांसीसी का अपभ्रंश रूप है। फ्रांसीसी फिल्में और अन्य कार्यक्रम फ्रेंच में दूरदर्शन पर आते हैं। इस होटल के कमरे से बाहर की तरफ़ देखने पर दिल हरा हो जाता है। दूर तक कहीं ढलान से अहातों में छोटे बंगले, कहीं-कहीं हरे मैदान पर पडे ओसकण सूरज की किरणों से झलमला उठते हैं। होटल का अहाता बडी शान से सुसज्जित रखा है क्योंकि पर्यटक यहाँ ठहरते हैं। इस बेलवी को पिछले वर्ष एक असुलभ सौभाग्य प्राप्त हुआ था। अपनी संगीतयात्रा में 'मुकेश' यहीं इसी होटल में संगतवालों के साथ रुके थे। इस भवन को उस संगीतसाधक के रियाज़ सुनने का सौभाग्य मिला। इस वर्ष मुकेशजी के असामयिक निधन की खबर ने पूरे मारीशस को दुःखाकुल कर दिया। सब मुकेश भाई की याद कर रहे थे। कह रहे थे—"मुकेश भाई का गान सुनने केलिए हज़ारों की भीड थी। बेकाबू हो रही थी। प्रधानमंत्री की अपील भी पूरा काम नहीं कर सकी। मगर मुकेश का अनुरोध सब मान गये। उस संगीत-सम्राट की स्वर-लहरी में सारा क्यूरिपीप नगर मुग्ध हो गया। अब उनकी स्मृतियाँ शेष रह गईं।"

मारीशस का मज़ा

हम सब हिन्दी सीखने—सिखानेवाले सूखे साहित्यकार विश्व हिन्दी सम्मेलन देखने गये थे। मगर मारीशस में प्रतिवर्ष हर मौसम में

विदेशों से हज़ारों पर्यटक पहुँचते हैं। ये ही यहाँ का मज़ा जानते हैं। उन्होंने प्रमाण-पत्र दिया है — मारीशस स्वर्ग है! स्वर्ग क्या है? पूर्ण स्वतन्त्रता, अपार आनन्द। इस देश के समुद्रतट पर ऐसे विशाल क्षेत्र में विराट होटल बने हैं कि वहाँ आपकी शांति का भंग करनेवाले ही नहीं होते। अमरीका, फ्रान्स, जर्मनी आदि अत्यधिक व्यस्त राष्ट्रों के बडे-बडे नगरों के दमघोटू शोरगुल से दूर एकदम शांत वातावरण यहाँ मिलता है। स्वास्थ्य और आनन्द के हित स्विमिंग पूल की व्यवस्था है। भारत नदियों तालाबों का देश ठहरा। यहाँ नदीस्नान जीवन का अंग है। स्विमिंग पूल का मज़ा लेने का क्रम कम चलता है। किन्तु स्विमिंग पूल के स्नान की बात नये नागरिक जीवन के सुखभोग का चिह्न हो गयी है। स्वास्थ्य केलिए ज़रूरी भी माना जाता है। जल की क्रीडाएँ, प्रतियोगिताएँ भी तो चलती हैं। समुद्री जल में बोटिंग और विशेष रूप से फ़ैबर ग्लास की बोट में बैठकर समुद्र के अन्दर उत्पन्न होनेवाले सस्यकणों और जीवों की झाँकी का आनन्द भी मारीशस के इन होटलों में मिलता है। पर्यटकों का मानसिक उल्लास नये फ़ैशन के होटलों में जिन-जिन रूपों में संभव है वे सब यहाँ हैं। नैट क्लबों की व्यवस्था है। फ्रान्स के इस उपनिवेश में पैरीस के ढंग के नैट-क्लब खूब मिलते हैं। इनमें जुआ खेलते हैं। कैबरे और अनेक प्रकार के मनोरंजन हैं। मैं तो नैट-क्लब जाने की किस्मत से वंचित रहा। एक तो डालरों की कमी और दूसरे नैट-क्लब की रंगीनी से मानसिक खीझ। इन संस्थाओं को देखते हुए हम जिस मारीशस का चित्र मन ही मन देखते हैं वह पूर्णतः यूरोपीय और भौतिकवादी है। इस वातावरण में भारतीय संस्कृति, वेदोच्चारण, संस्कृत-हिन्दी अध्ययन व साहित्य-रचना आदि बातों को सुरक्षित रखना बेशक बहुत कठिन है। ऐसी कठिन साधना मारीशसवाले भाई-बहन कर रहे हैं—यह बडी तारीफ़ की बात है।

सम्मेलन

विश्व हिन्दी सम्मेलन का विराट आयोजन 'मोका' स्थित महात्मागांधी संस्थान के प्रांगण में हुआ था। एकदम शानदार रहा।

देश के सारे क्षेत्रों के प्रतिनिधि मंच पर उपस्थित थे। ऐसे पर्वों पर मंच पर पधारकर फोटो खिचवानेवालों की कमी नहीं होती। किन्तु इतने विशाल आयोजन की तैयारियाँ जो कर्मठ लोग करते हैं उन्हें लोग स्मरण कम करते हैं। पौधों के फूल तोडनेवालों की कमी नहीं रहती। मगर बीज बोकर पौधा बनानेवालों की उन्हें क्या चिन्ता हो? इस महासम्मेलन के प्रबन्ध में मारीशस के सारे हिन्दी प्रेमी लगे थे। कितनों ही की बातें हमें विदित नहीं! जितने प्रमुख थे, उनमें मारीशस के दयानंद वसंतराय, खेर जगतसिंह, जे एम. भगत, सोमदत्त बखौरी आदि थे।

भारतीयों में सर्वश्री अनन्तगोपाल शेवडे, डा० बच्चूप्रसाद सिंह, डा० महावीर अधिकारी आदि प्रमुख रहे। श्री शेवडे जी में प्रबन्ध और योजना-निर्माण की जो अतिशय प्रतिभा है वह नागपुर में प्रकट हो चुकी थी। यहाँ भी उनकी कुशलता स्पष्ट थी। विदेश-मंत्रालय के हिन्दी विभाग के प्रधान डा० बच्चूप्रसाद सिंह विदेशी विद्वानों के साथ संपर्क रखते थे। उच्चतर स्तर पर पूरा आयोजन करने में वे दत्तचित्त रहे। प्रदर्शन की पूरी सामग्री भेजकर और अनेक बातों में दिशा देकर डा० हरवंशलाल शर्मा ने सम्मेलन को सफल बनाने में अपना योग दिया था। स्वागत-सत्कार, पर्यटन-प्रबन्ध, भोजन-प्रबन्ध आदि में कितने ही मारीशियन बन्धुओं ने दिन-रात एक कर अनुपम सेवा की थी। उन्हें हम बदले में क्या दे सकते थे? वे हम से पा भी क्या सकते थे? उन्होंने इसे अपने देश की शान माना। देश का गौरव समझा। अपने पितृदेश की राज-भाषा का उत्सव माना था। उनकी हिन्दी-श्रद्धा के सामने हम नतमस्तक हैं।

डा० कर्णसिंह और दयानन्द वसंतराय

रामचरितमानस के बालकाण्ड में अद्भुत रस व्यंजित करते हुए तुलसी ने एक चौपाई लिखी है—

"इहाँ वहाँ दुइ बालक देखा।"

कौसल्या माता को पूजाघर में भी बालक राम मिले। उसी समय शयन के पालने में भी। मारीशस में विश्वहिन्दी सम्मेलन के दिनों में हर जगह कर्णसिंह ही दिखाई दिये। उद्घाटन की अध्यक्षता, दोपहर को अतिथियों के भोजन की गृहस्थी, प्रथम दिन रात को भारत की तरफ़ से भोज, समापन सम्मेलन, उद्घाटन, गंगातालाब में हिन्दी महासभा का उत्सव—हर जगह प्रमुख भाषणदाता डा० कर्णसिंह थे। उनका तेजस्वी और मन्दहास-मधुर मुखमण्डल, सबसे बढ़कर हिन्दी एवं अंग्रेज़ी में भारतीय संस्कृति के तत्वों से पूर्ण भाषण स्मरणीय रहे। संस्कृत श्लोकों एवं हिन्दी कवियों के छन्दों के उद्धरणों से वे भाषण और सारवान हो गये थे। एक प्रीति-भोज में उनका फ्रांसीसी का ज्ञान भी प्रमाणित हुआ। काश्मीर के राजवंश के ये अधिकारी भारतीय संस्कृति के सन्देशवाहक के रूप में मिल गये हैं। यह भारत का सौभाग्य है। उनके नेतृत्व से हर भारतीय प्रतिनिधि अपने को गौरवान्वित मानता था।

भारतीय प्रतिनिधि मण्डल के नेता कर्णसिंह थे तो मारीशियन पक्ष के पूरे कार्यकर्त्ताओं के नेता श्री दयानन्द वसंतराय थे। क्रीडा एवं युव कल्याण के मंत्री श्री बसंतराय मारीशियनों के भारतीय संस्कृति संबन्धी हर क्षेत्र के प्रमुख दिखाई पडे। प्रत्येक सांस्कृतिक संस्थान के अध्यक्ष या अन्य किसी रूप में वसंतराय जी नेतृत्व करते थे। वे बिना किसी उतावली के, बडे सौम्य भाव, पर दृढ़ता से सारी बातों का प्रवन्ध करते थे। प्रत्येक विषय में कार्यकर्त्ता उनके सलाह-सुझाव केलिए आ पहुँचते थे। हिन्दी का यह आयोजन सरल नहीं था। प्रजातंत्रवादी देश-व्यवस्था में फ्रांसीसी-चीनी आदि ही क्यों, तमिल-तेलुगु भाषियों का भी थोडा बहुत विरोध इस संमेलन के विषय में था। इसको भडकाये बिना चतुरतापूर्वक सारा काम संभालना बसंतराय जैसे व्यक्ति का ही काम था। जिस प्रकार प्रथम दिन उन्होंने भारतीय प्रतिनिधियों का स्वागत किया उसी प्रकार वे बिदाई के दिन भी हवाई अड्डे पर मौजूद थे।

हिन्दी कार्यकर्त्ता और हिन्दी

विश्व हिन्दी सम्मेलन की और एक सुहावनी स्मृति वहाँ के हिन्दी कार्यकर्ताओं की है। अनेक भाई बहन हिन्दी अध्यापक या हिन्दी निरीक्षक के पद पर कार्य करते हैं। उनकी मातृभाषा भोजपुरी है और वे हिन्दो सिखाते हैं। साथ ही वे मारीशस की राजभाषा फ्रांसीसी जानते हैं। क्रियोली बोलते हैं। उनको दुःख है कि हिन्दी के सम्बन्ध में लंबी चौडी बातें तो की जाती हैं, पर अभी तक स्कूलों में भी हिन्दी को वह महत्व नहीं दिया गया जो देना चाहिए। अब शिक्षा का अर्थ है धन व उच्च पद का उपाय। इस केलिए विज्ञान व तकनीकी विषयों पर बल दिया जाता है। हिन्दी को गौण विषय बनाया गया है। देश में हिन्दी का दैनिक समाचारपत्र तक नहीं निकलता। थोडी सी पत्रिकाएँ मुश्किल से चलती हैं। मारीशस में लेखकीय प्रतिभाएँ हिन्दी के क्षेत्र में हैं। उपन्यास, कविता, गीत, कहानी एवं धार्मिक ग्रन्थ के रूप में करीब २५० पुस्तकें प्रकाशित हैं। इन में धार्मिक ग्रन्थ व कविताएँ ही अधिक हैं। उनके बाद अन्य पुस्तकें आती हैं। अर्थात बहुत कम पुस्तकें निकली हैं। अभी तक कई लेखकों की रचनाएँ प्रकाशित होने पर भी पुस्तकाकार में नहीं आई हैं। यही विदित होता है कि हिन्दी साहित्य का पौधा वहाँ अभी पनप रहा है। विदेशी शासन, विदेशी भाषा और विदेशी वस्तु के प्रति ममता भारत में ही नहीं, मारीशस में भी प्रत्यक्ष दीख रही थी। यह नव स्वाधीन राष्ट्रों की विशेषता है। मगर आफ्रिका के अनेक नव-स्वाधीन राष्ट्रों में और एक प्रवृत्ति है। वह यह कि वे अपनी ज़मीन पर रहनेवाले विदेशी स्रोतों के निवासियों को बाहर खदेड देना चाहते हैं। सुना है कि मेडगास्कर में भारतीय आप्रवासी नागरिकता के अधिकारों से वंचित हैं। उगांडा के ईदि अमीन की बात सभी जानते ही हैं। मारीशस के हिन्दी अध्यापकों, निरीक्षकों की एक बात हमें विशेष पसन्द आई। अधिकांश के पास अपनी-अपनी मोटर रहती थी या स्कूटर। सबका वेतन-स्तर हमारी नज़र में अच्छा है और देश का सामान्य आर्थिक स्तर भी ठीक है। पेट्रोल भारत से सस्ता है। चावल और आटे पर सरकार

आर्थिक सहायता देती है। इन कारणों से जीवन-स्तर अच्छा है। अधिक गहराई में जाने केलिए अवकाश कहाँ रहा ?

विश्व हिन्दी सम्मेलन के विदेशी प्रतिनिधि

नागपुर के विश्व-हिन्दी सम्मेलन में मन को क्षुब्ध करनेवाला एक दृश्य बारंबार नज़र आता था। सम्मेलन में फ्रान्स, जर्मनी, रूस आदि देशों से कुछ विदेशी हिन्दी विद्वान भी उपस्थित थे। वे बडी लगन से—विद्यार्थियों की सी श्रद्धा से हिन्दी शुद्ध रूप में बोलना सीख गये हैं। हिन्दी साहित्य या भाषा की बारीकियाँ सीख चुके हैं। कुछ मित्रों ने हिन्दी में या अपनी भाषा में ग्रन्थ भी लिखे हैं। सर्वश्री लोठार लुत्से (जर्मनी) चेलिशेव (रूस) और स्मेकल (चेकोस्लोवाकिया) काफी मशहूर है। प्रो० दोई (जापान) श्रीमती निकोलास बलबीर (फ्रांस) डा० मेग्रीगर (इग्लैंड) आदि भी थे। रूस के तो कई थे। इन विदेशी प्रतिनिधियों की विशेष स्वागत व्यवस्था थी। यह भी ठीक ही है। मगर हर क्षण इनको पान की तरह फेरे रहना, नुमाइशी चोज़ की तरह हर जगह ले चलना, उन्हीं पर कैमरे को एकत्रित करना, उनके प्रमाणपत्र केलिए हिन्दी पर बुलवाना - ये सारी चीजें आत्मसम्मान की द्योतक न रहीं, हीनता की द्योतक थीं। योरप, अमरीका और रूस के लोग परिश्रमी हैं। उनमें कई लोग जटिल विषय तक सीखने संसार के कोने कोने में पहुँचते हैं। मैक्समूलर, मैकडेनल आदि न होते तो हमारे देश की जो कमी होती यह भी हम जानते हैं। किन्तु हम अपने को छोटा क्यों बनावें ? यही सवाल उठता है।

मारीशस में भी ये विदेशी विद्वान आये थे। हाँ, इस बार रूस से कोई नहीं आ सके। शेष लोग आये थे। हमारे होटल बेलवी में ही उनमें अधिकांश लोग ठहरे थे। उनकी विद्वत्ता—प्रत्येक विषय को गहराई से परखने की प्रवृत्ति प्रशंसनीय है। किन्तु उनके राजनीतिक विचार हमारे अनुकूल ही हैं—ऐसा सोचना कठिन है। मारीशसवालों ने इन विदेशी प्रतिनिधियों का खास सम्मान किया। पर विदेश में वह नागपुरवाली हीनतावृत्ति नहीं दिखाई दी। मारीशस में

फ्राँसीसी, जर्मन, अंग्रेज, अफ्रीकी—अनेक स्रोतों के लोग हैं। विदेशी पर्यटकों की तो अच्छी संख्या है। अतः ये भी सामान्य ही रहे। हाँ, विदेशी सत्ता के मानसिक प्रभाव ने मारीशस के लोगों के मन में भी इन विदेशियों के प्रति खास ममता बनाई थी। हमारे होटल के कर्मचारी भी इसका अपवाद कैसे रहें? फ्रांस की निकोलास से फ्रेंच में बातें करने में होटल के हर कर्मचारी को बडा आनन्द आता था। इन विदेशी हिन्दी प्रेमियों को देखकर ही सही—हमारे भारत के साहब लोग अपने देश की हिन्दी सीखने—इसकी सेवा करने क्यों तैयार नहीं होते? क्या हमें गुलामी ही सुहाती रहेगी?।

सबहिं नचावत लोभ गुसाइं

पर्यटकों का देश मारीशस उन्हीं पर अपनी विदेशी मुद्रा केलिए बहुधा निर्भर करता है। इस देश में अपनी खेती, अपने कारखाने सब कम हैं। पर इस देश के पोर्टलूयि और अन्य नगरों में संसार भर की चीजें मिलती हैं। खासकर जापान, चीन और फ्रांस की चीजें मिलती हैं। खासकर जापान, चीन और फ्रांस की चीजें ड्यूटी-मुक्त दूकानों में भी मिलीं। सौदा करनेवाली चीनी दूकानों की तादाद सबसे अधिक है। कपडे, कलम, घडी आदि-आदि। हमारे हिन्दी सम्मेलन के प्रतिनिधियों के वार्तालाप में हिन्दी कविता या उपन्यास की चर्चा बहुत कम सुनाई पडी; लेखकों के नाम की भी। सभी लेखक, ख्यातनामा साहित्यकार, प्रोफेसर लोग तक जपानी घडी, कालकुलेटर और न जाने कैसी चीज बटोरने पर जुटे हुए थे! सब के होठों पर अपने अपने सौदे की चर्चा थी। संयोग से कस्टमूसवालों ने कुछ रियायत की थी सम्मेलनवालों के विषय में। यह विदेशी लोभ समाप्त किये बिना हमारे देश को सन्तोषजनक प्रगति संभव नहीं। सिर्फ अपनी भाषा की चर्चा से देश की उन्नति नहीं होती।

बारिश के देश में नये नये सेतुबन्ध

केरल को कितने ही विशेषण दिये गये हैं! इस प्रान्त की महिलाओं के पारम्परिक श्वेत वसनों को देखकर किसी लेखक ने इसे महा-श्वेताओं का देश बताया था। यहां के लहलहाते हरे-भरे पेड़-पौधों को देख उत्तर के मित्र इसे हरियाली का देश कहते हैं। तमिल-भाषी मित्र यहाँ की बारिश से तंग आकर मज़ाक में इसे मषैनाड़ अर्थात् 'बारिश का देश' पुकारते हैं। प्रकृति ने केरल को अन्य प्रान्तों से अधिक प्रेम दिया है। यहाँ तक कि केरल के अधिकांश भूभाग में व्यावहारिक दृष्टि से दो ही मौसम होते हैं—वर्षा और ग्रीष्म।

ग्रीष्म के बाद की वर्षा बड़ी आनन्ददायक होती है। तुमुल जय-नाद करता वर्षाकाल सहचर झंझावात के साथ जब केरल की प्रथम वार्षिक यात्रा प्रारंभ करता है तब जन-जन के सूखे दिल हरे होते हैं। खेतों के घाव भर जाते हैं, ठूंठ बुढऊ पेड तक पुलकित हो उठते हैं। बच्चे आंगन के समुंदर में कागज़ी जहाज़ों के बेडे का प्रस्थान कराते हैं। लेकिन वैशाख के दूसरे पखवाडे में प्रारंभ होनेवाला वर्षाकाल जब तांडव जारी रखता है तब हर्षपूर्ण स्वागत की जगह अभिशाप एवं आर्तनाद शुरू हो जाता है। अपनी ऊँचाई पर दर्पस्फीत पहाडी टीलों का घमण्ड चूर चूर हो जाता है।

पर्वतीय पथ अधिक दुर्गम हो जाते हैं। यद्यपि केरल समुद्रतट से निकट है, फिर भी इसका एक तिहाई भाग पर्वतीय है। वनों-पर्वतों पर साहसी मानवों का धावा होता ही आया है। वनों के वृक्ष नागरिकों की अट्टालिकाएँ सजाते हैं, जहाज की यात्रा करके विदेशी भवनों की शोभा बढाते हैं। धीरे-धीरे उजड़ते वन वर्षाघात को धारण करने में असमर्थ होते हैं। भूक्षरण होता है। बाढ़ अबाध गति से बढ़ती है।

केरल नदियों-तालाबों का देश है। छोटी-छोटी नदियाँ बादल और पहाड़ों से पानी लेती हैं। वे अपने पास कुछ जमा नहीं रखती। किनारे बसे लोगों को अपना जल पिलाती हैं और शेष महासागर को भेंट कर देती हैं। किनारों कगारों को ढहाती जाती हैं और गाँव की पगडंडी को कीचड़ से लथपथ कर देती हैं। देहाती लोग इस मौसमी विशेषता से परिचित होते हैं। परन्तु वर्षाकाल का वज्र-प्रहार जब नगर-पथों पर पडता है तब शहरातियों का कचूमर निकल जाता है। हलकी कोलतार से पुती सडकों के गड्ढे और उन पर उभरे पत्थर शानदार यंत्र-चालित रथों को भी थर्राते हैं।

असम और उत्तर भारत के कई स्थानों पर वर्षा थमना नहीं जानती। मगर केरल की बारिश क्रोधी संत की तरह थोडी देर तक धुआंधार बरसती है। जल्दी ही आसमान का चेहरा बच्चों के मुखडे की तरह खिल जाता है। यह खिलखिलाहट भी धोखा देती है। पता नहीं, बादल कब गरज पडे, इसी अनिश्चय के कारण केरल में जहाँ देखिए वहाँ छाते दिखाई देते हैं।

छतरी केरल में' अनुसंधान का रोचक विषय है। यहाँ छाता हमेशा चलता रहा है। यहाँ के किसान, मल्लाह, मछुए आदि पहले ताड़ के पत्तों का छाता रखते थे। छाते के नीचे टोपी-सी बनाकर वही टोपी छाता' सिर पर रख लेते थे। अन्य लोग पतले मजबूत डंडे का छाता लिये चलते थे। हैसियत के अनुसार छाते की सजावट भी होती थी। छाता पर्दे का भी काम करता था। नंपूतिरि (केरलीय ब्राह्मण) स्त्रियों को अपने सम्मान एवं जाति के चिह्न के रूप में पर्दे का छाता लेकर चलना पडता था। समाज-सुधार के दौर में पर्दे का छाता प्रायः खतम हो चुका है। ताड़ के पत्ते का पुराना छाता काले कपडे के छातों से भयभीत होकर देहात के कोनों में सिमट गया है।

छाते के भी कितने रूप! मर्दाना और जनाना तो है ही। लकडी व बेंत की डंडी इस्पात की डंडी को देखकर डर के मारे हटती जा रही है। मंदिरों, गिरजों में जुलूस के वक्त देवता की सेवा में उपस्थित

होनेवाले बडे बडे रंगीन रेशमी छातों की छटा निराली ही होती है । सामाजिक जीवन में जहाँ स्त्रियाँ पुरुष का अनुकरण कर रही हैं वहाँ छाते के विषय में पुरुष स्त्रियों की नकल कर फोल्डिंग छतरियों को अधिक से अधिक अपनाते जा रहे हैं ।

बच्चे को थप्पड़ देती माँ ही छाती से लगाकर उसे दूध पिलाती है । वर्षा कोरा उपद्रव नहीं करती । उसमें अनेक वरदानों की संभावनाएँ हैं । पन-बिजली योजनाओं का स्रोत वर्षाकाल ही है । अट्टहास करती निर्झरिणी की शक्ति से चालित यंत्र बिजली का उत्पादन कर नगर-नगर को तम से ज्योति में लाते हैं । ऊँची पहाडी ढलानों पर बारिश अनमोल फसल देती है । अगर वर्षा न हो तो आप को गरम चाय नज़र न आये । न काफी मिलेगी, न इलायची, न रब्बड़ ।

केरल काँपता क्यों है ?

वर्षाकाल में केरल के काँपने का कारण उसकी प्राकृतिक स्थिति है । पूर्व में पर्वत-पंक्तियाँ और पश्चिम में अरब सागर । बरसात में दोनों अभिभावक- पहाड़ व समुंदर- पगला जाते हैं तो बेचारे बच्चे की दुर्गति होती है । क्रोधी पहाड पत्थर लुढ़का देता है । सागर तो बौखलाने पर लंबी भुजाओं से थप्पड मारकर किनारे की संतानो को बेदखल कर देता है । वह मानों पूछता है-तुम्हारी इतनी हिम्मत कि मेरी छाती पर मुगरी दलना चाहते हो ?

अरब सागर के तट पर सिमटते आंचल की सलवटों से भरी साडी पहने केरलरानी अपनी शालीनता प्रकट करती है । इसका समुद्रतट ५६० कि. मी. लम्बा है, जिसमें ३६० कि. मी. पर समुद्री धावे का शिकार होने की संभावना है । चूंकि पहाडी स्थान निवास के कम योग्य हैं इसलिए समुद्रतट की आबादी का घनी रहना सहज है । उत्तर केरल में कण्णूर, माही, कालिकट, मध्य केरल में कोचिन के पास चेल्लानम आदि स्थान एवं दक्षिण केरल में आलप्पी के नज़दीक के गाँव और कोवलम से थोडी दूर के स्थान समुद्री धावे के खतरे के स्थान मा

गये हैं। इन स्थानों पर वर्षाकाल में समुद्रराज तटभूमि का धृतराष्ट्रालिगन करता है। जो धनी हैं वे समुद्रतट से काफी दूर पक्के मकानों में रहते हैं। उन्हें किसी तरह का भय नहीं। लेकिन जो गरीब वरुणपुत्र समुद्रोपजीवी हैं, किनारे-किनारे झुग्गी बनाकर उसी में पैदाइश से लेकर मौत तक का जीवन बिताते हैं, उनका और कोई सहारा नहीं है; वे तबाह हो जाते हैं। उन्हें हफ़्ते भर मुफ़्त में राशन दिया जाता है। गिरजाघरों—पाठशालाओं में हफ़्ते भर का ठिकाना दिया जाता है। इसके बाद सभी उन्हें भुला देते हैं। समुद्री प्रकोप थम जाने के पश्चात् वे समुद्रपुत्र उसी के पास झुग्गी बनाने के कार्य-क्रम में फिर से लगते हैं। सरकार चुप नहीं है। वह २२० कि. मीटर समुद्र-तट को समुद्री दीवार, चट्टानों का बंधन आदि से सुरक्षित करने का प्रयास करती आयी है। ऐसी समस्या को रोकने केलिए सेतुबंधन के सिवा कोई उपाय नहीं है।

अपने तट पर पत्थरों की दीवार बनाते आदमियों को देखकर समुद्र व्यंग्य से अट्टहास करता है। ऐसे प्रसंग पर राम के प्रिय सेवक नल, नील आदि का स्मरण आता है। सेतुबन्धन का वह पुराना क्रम अब भी जारी है। लंका-प्रवेश केलिए अब रामचन्द्र को सेतुबंधन की ज़रूरत नहीं पडेगी। आज तो एयर लंका का विमान आप को घंटे भर में पहुँचा देगा। पर सेतुबन्धन का मिथक यह सन्देश देता है कि भीषण समुद्र-राज को भी कभी न कभी मानव का दास बनना पडेगा। आजकल के वैज्ञानिक जगह-जगह पर सेतुबंधन करते ही जाते हैं। वे समुद्री जल के अन्दर पनडुब्बी चलाते हैं। समुद्रजल की धार से बिजली का निर्माण करते हैं। वे परशुराम की भाँति पुल बाँधकर समुद्र से भूमि का पुनर्ग्रहण करते हैं। तब मानव के पुरुषार्थ पर हमें गर्व होता है। फिर भी प्रकृति यदि बिलकुल सहायक नहीं हो तो मानव का प्रयास असफल ही हो सकता है।

वैशाख की वर्षा कुछ थमती है तो राहत मिलती है। आषाढ़ में फिर वर्षा ज़ोर पकडती है जो महीना भर चलती है। आगे महीने भर के विश्राम के पश्चात् पौष (नवंबर) में बादल मिश्र-ब्याज-सहित

बरस पड़ते हैं । अगहन से लेकर चैत तक वर्षा की गति धीमी रहती है । फिर भी वह बीच-बीच में लोगों के आँसू पोंछती है । प्रकृति की इसी वर्षा के कारण हरियाली केरल की चिर-संगिनी है ।

हाल ही में 'साइलेंट वैली' की जगह नया सेतुबन्धन कर पन-बिजली का उत्पादन करने की योजना बडी बहस का कारण बनी है । यह विशिष्ट पहाडी प्रदेश नित्य हरीतिमा और खास वन-जीवों केलिए अंतरराष्ट्रीय ख्याति पा चुका है । वनस्पति-विज्ञान और प्रदूषण के विशेषज्ञ इसे नष्ट करने के विरुद्ध आन्दोलन कर रहे हैं । पन-बिजली के पक्षधर इस आरोप को अस्वीकार करते हैं । वे नये सेतुबंधन से धान, जल और बिजली पाने का दावा करते हैं । पता नहीं, दोनों में से कौन जीतेगा ।

अब उस परियोजना को सरकार ने अस्वीकृत घोषित किया है ।



बहने दो

दीपावली प्रतिवर्ष आती है और अपनी मंगल ज्योति से नई प्रेरणा देती है। हम सारे दुःख व निराशा के अंधकार को समाप्त कर नये प्रकाश के पथ पर आगे बढते हैं। हमारा मन परमात्मा से वेदोक्त प्रार्थना करता है– 'तमसो मा ज्योतिर्गमय।' हर साल दीपावली अपनी ज्योति से हमें शिक्षा देती है कि आगे बढ़ो, प्रगति तुम्हारी है। अंधकार व दुःख कल की चीज़ें थीं और वे समाप्त हुईं। दीपावली के इस सन्देश का स्मरण करते करते मेरा मन प्रसंगवश केरल के एक कवि के कुछ शब्दों पर गया।

मलयालम साहित्य के महारथी कवियों में हास्यरस के कवि स्व० श्री कुंचन नंपियार बडे ही लोकप्रिय हैं। उनके तुल्लल काव्य (साभिनय नृत्यविशेष केलिये प्रस्तुत काव्य) अत्यन्त सरस हैं। 'पंचेंद्रोपाख्यानम्' नामक तुल्लल काव्य में एक जगह पर उन्होंने यमराज से रहित संसार की बडी मनोरंजक कल्पना की है। वह ऐसा युग है, जब कि यमराज लंबी छुट्टी पर गये हैं। उस समय की दशा कवि के शब्दों में सुनिए—(अनुवाद)

बूढों का पूरा दल धरती पर जमा हो गया,
मरने की कोई सुविधा-संभावना नहीं, यमराज नहीं हैं।
बूढे दादा के परदादा जीवित हैं,
उनके भी दादा के दादा अब नहीं मरे।
पांच सौ वर्ष के बुढ़ऊ दादा-नाना
नन्हें बच्चे हैं, अब उनके भी दादा हैं।
दस करोड़ दंतहीन जन किसी घर में हैं।
लटकी गुडिया जैसे खचाखच भरे हैं।

इस कवि की कल्पना में अतिरंजन अवश्य है। फिर भी हमें सोचना चाहिए कि यदि संसार में नाश-हानि ज़रा भी नहीं हुई और यह गतिशील के बदले स्थितिशील ही रहे तो क्या होगा। तब तो यहाँ विकास का दृश्य ही नज़र नहीं आ सकता। सब कुछ ज्यों का त्यों रहेगा। इस स्थितिशीलता की चरम सीमा की कल्पना नंपियार के ही हनुमदुद्भव नामक तुल्ललकाव्य में वर्णित है। एक बार पवन रुक गया था तो संसार में कोई वस्तु या व्यक्ति हिलने-डुलने में असमर्थ निकला। कवि के शब्दों में वह प्रसंग आगे प्रस्तुत है।

तमसो मा ज्योतिर्गमय
धरती के सारे जीव जाल
चित्र में लिखे से धरे रहे।
लेटे तो लेटे ही रहे।
खाने बैठे जन के कर में,
कौर रहा, मुँह खुला रहा।
पानी में नहाते सज्जन,
पानी में डूबे ही रहे।
अंजलि में जल किये विप्र की,
अंजलि में जल धरा रहा।

हवा अगर नहीं चले और लोग हिलें-डुलें नहीं तो वह दशा इतनी भयंकर रहेगी कि हम कल्पना भी नहीं कर सकते।

इन अवतरणों से कवि ने विकास में अवरोध और गति-शीलता के अभाव का अनिष्टकारी परिणाम दिखाया है।

संसार की इस विकासशील प्रकृति का ज्ञान रखने पर भी बहुत से लोगों के मन नई बातों से मेल नहीं कर पाते। वे पुरानी स्थिति-शीलता को बनाये रखना आवश्यक समझते हैं। उनके मन बीतों से ऐसा समझौता कर चुके हैं कि उन्हें तोडकर नई बातों तथा परि-स्थितियों को मानना तक अखरता है। नई परिस्थिति के अनुसार अपने को बदलना उन्हें असंभव एवं अत्यंत अनुचित लगता है। उनका

यह दृढ विचार रहता है कि हमारे ज़माने में जो कुछ था वह ठीक था, अब सब कुछ बिगडता जा रहा है। प्रगति एवं प्रतिक्रिया का यह सिद्धांत मानव-जीवन के हर क्षेत्र में लागू हो सकता है।

एक ज़माना था जब भारत में संस्कृत की शिक्षा ही शिक्षा कहलाती थी। वह शिष्टों की वाणी मानी जाती थी। अन्य भारतीय भाषायें 'ग्राम्य' और विदेशी भाषायें 'म्लेच्छ' पुकारी जाती थीं। यह स्थिति अनन्त काल तक जारी नहीं रह सकती थी। इतिहास का चक्र घूमता ही रहा और शताब्दियों के बाद फारसी को पहला स्थान मिला। वह शरीफ़ों की भाषा कहलाई। मुगल शासकों ने यह भाषा चलाई थी। साधारण स्तर के लोग विजेता जाति की भाषा फारसी को श्रेष्ठ मानते आये। मुगलों की जगह पर अंग्रेज़ों की हुकूमत जमी तो उन्होंने इस देश में अंग्रेज़ी की प्रतिष्ठा बनाई और बढ़ाई। विजेताओं की भाषा के रूप में नेता अंग्रेज़ी का सम्मान सम्पूर्ण भारत में होने लगा। जिन दिनों अंग्रेज़ी साहित्य का रूप गढा जा रहा था, उन दिनों योरप में विज्ञान, अर्थशास्त्र, राजनीति आदि का विकास हो रहा था। उसी के कारण अंग्रेज़ी का कलेवर पुष्ट हुआ तथा उसका अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान बढा। विकासशील अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण में भारत भी आ गया और यहाँ भी अंग्रेज़ी का प्रचार होने लगा।

नये पश्चिमी प्रभाव के फलस्वरूप संस्कृत का स्थान गौण बनता चला। वह प्राचीन संस्कृति एवं ज्ञानराशि की प्रतीक रह गई। यद्यपि संस्कृत के विद्वान और प्रेमी अभी तक इस परिवर्तन से खिन्न हैं, तो भी परिवर्तन की इस दिशा को कोई अस्वीकार नहीं कर सका है। अब यह सपना देखना फिजूल होगा कि भारत में पहले की तरह घर-घर पर संस्कृत में वार्तालाप होगा, शास्त्रार्थ चलेगा तथा अनेकों लक्षण-ग्रन्थ लिखे जाएंगे। अब हम प्रगति की इस धारा पर एक कदम और बढावें।

हमारे देश में गत साठ सालों तक स्वाधीनता की ओर जनता की प्रगति हुई है। इस प्रसंग पर स्वाधीनता का अर्थ केवल शासनों का

परिवर्तन नहीं है । देश का आर्थिक विकास, व्यापारिक उन्नति, शिक्षा की प्रगति. सभ्यता का प्रचार आदि सभी बातों में बाहरी सत्ता के दबाव या अंकुश से छूटकर स्वतंत्र रहना ही स्वतंत्रता है । इसी व्यापक स्वतंत्रता केलिये हज़ारों नर-नारियों ने महात्मा गांधी जैसे नेताओं के अनुशासन में रहकर अहिंसात्मक लडाई लडी थी । बलिदानों से भरी उस लडाई के दिनों में इसी देश के अनेकों लोगों ने उनकी हंसी उडाई थी और उनको रोकना चाहा था । वे समझाते थे कि विलायती शासन की समाप्ति कभी संभव नहीं है। किन्तु उन लोगों के देखते-देखते विदेशी शासन समाप्त हुआ तथा पराधीनता की जंजीरें टूट गयीं । अब भी उन पुराने लोगों के थोडे से पक्षपाती अंग्रेजों के शासन केलिये लालायित एवं उसके अभाव से उदास दिखाई पडते हैं । इस उदासी की अब कोई दवा नहीं हो सकती ।

हमारे देश का स्वाधीनता-संग्राम बहुमुखी था। महात्मा गांधीजी ने द्विमुखी कार्य किया था। एक तरफ़ वे आज़ादी केलिए विलायती सरकार से अहिंसात्मक लडाई लड रहे थे । दूसरी तरफ़ वे विविध प्रकार से विशृंखल भारतीयों को एकता के सूत्र में पिरोने की कोशिश कर रहे थे । भावात्मक एकता और वैचारिक समन्वय केलिये गाँधी जी ने पोषक दवा के रूप में राष्ट्रभाषा हिन्दी को प्रस्तुत किया । अधिकांश लोगों ने इसे सहर्ष अपनाया। यह भाषा पहले व्रज, अवधी, मैथिली, खडीबोली आदि विभाषाओं की काव्यसंपत्ति से युक्त साहित्यिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित थी। किन्तु अब इसका विचार एक नई दृष्टि से होने लगा। देश में एक नये प्रसंग से राजभाषा और अंतर्प्रान्तीय भाषा के तौर पर यह फैलती चली । इस नये कदम के समर्थक यही मानते आये हैं कि जिस प्रकार अन्य स्वतन्त्र व सभ्य देश अपनी भाषा के ज़रिए देश का बहुमुखी विकास करते रहे हैं; उसी प्रकार हिन्दुस्तान भी अपनी भाषा के ज़रिये इस देश का विकास कर सकेगा । इसी इच्छा एवं प्रयत्न के फलस्वरूप हिन्दी का प्रचार इतना शीघ्र और सुन्दर होता आया है ।

अन्य विषयों के समान इसकी भी प्रगति का विरोध करनेवाले कई लोग हमारे देश में हैं। उनमें भिन्न-भिन्न मत रखनेवाले हैं। पर सब हिन्दी की प्रगति को रोके रखने में एकमत हैं। इस विरोध-भावना का कारण समझना कठिन है। कारण समझ लेने पर हिन्दी के समर्थकों की गलतफ़हमी दूर हो भी सकती है। अंग्रेज़ी भाषा और उसी में सारा व्यवहार करने की प्रणाली से अधिक अभ्यस्त होने के कारण ये लोग हिन्दी की नई परिस्थिति से जल्दी मेल नहीं कर पाते। अंग्रेज़ अफसरों का स्थान जब भारतीय कर्मचारियों ने लिया था, तब मातहत के अनेक कर्मचारी मन ही मन नाराज़ हुए थे। यों जब से जनता के प्रतिनिधि मंत्री बनकर शासन संभाल रहे हैं तबसे कई अफसर नाखुश रहे हैं। यह सहज है। इस विरोध और नाखुशी की जड़ में परिस्थिति से मेल बनाने में इनकी असमर्थता ही देखी जा सकती है।

प्रगति का परिणाम तो यही रहेगा कि वह नहीं रुकेगी। हमारे देश में स्थापित प्रजातन्त्रवादी शासन इन छोटे बाधा-बन्धनों से खतम होनेवाला नहीं है। इसी तरह भारत की भारती याने हिन्दुस्तान की भाषा के तौर पर हिन्दी का जो विकास अब हो रहा है वह आगे बढ़ता ही जायगा। इसको रोकने की चेष्टा भी सफल नहीं होगी।

हम अंतर - प्रान्तीय भाषा या राजभाषा के रूप में हिन्दी की जैसी प्रगति देख रहे हैं, वैसा ही विकास इसके आधुनिकतम साहित्य क्षेत्र में भी होता जा रहा है। ज्ञान-विज्ञान की ज्योति का प्रसार अब कोने-कोने को ज्योतिर्मय बना रहा है। आज जाति-पाँति की लघुता या नीचता की वजह से कोई आदमी ऊँची शिक्षा या कला-वैभव से वंचित नहीं रहता। सार्वजनिक ज्ञान-विज्ञान-विनिमय के साधनों की सुलभता से आज समाज के किसी भी स्तर का आदमी प्रयत्न करके प्रतिभा को उज्वल बनासकता है। अतएव आज पाठक-वृन्द और साहित्यकार-समाज की क्षमता बहुत बढ़ गई है। जनता में कितने ही स्तरों, मानसिक रुचियों और धार्मिक राजनैतिक विचारों के लोग रहते हैं।

उन सबके हृदयगत भावों की अभिव्यंजना के सबल माध्यम के रूप में आज साहित्य विराजता है।

साहित्य की संक्षिप्त व्याख्या करने पर बताया जा सकता है कि साहित्यकार अपने हृदयगत भावों को उचित शब्दों के परिवेश में प्रस्तुत करता है। हर मनुष्य की भीतरी "अहं" की चेतना सशक्त होती है। साहित्यकारों के पास उसकी अभिव्यंजना का साधन सुन्दर भाषा होती है। उसकी चेतना अपनी गठन और स्वरूप के अनुसार बाहरी घटनाओं—विचारों के प्रभाव से नानारूपों में प्रभावित होती है। साहित्यकार की क्षमता, गहराई आदि भी प्रतिव्यक्ति घट-बढ़ सकती है। इन्हीं विशेषताओं के कारण आधुनिकतम युग में अनेकानेक साहित्य-धारायें हमारे देश में प्रवाहित होती रहती हैं। साहित्य ऐसा क्षेत्र भी है, जिसमें कोई प्राकृतिक या प्रशासकीय दंड-विधान नहीं होता। यहाँ साहित्यकार हृदय और बुद्धि की बातें खुलकर दूसरों को सुनाते हैं। उनकी बहुरूपता के अनुसार साहित्यिक रुचियाँ भी बहुमुखी होती हैं।

साहित्य के इन विविध रूपों और भावों का विकास कभी नहीं रुकता। कुछ लोग यदि किसी खास रूप या भाव-धारा को नापसंद करते हैं, तो दूसरे उसी पर तन मन से रीझ जाते हैं। पाठक सहृदयों की रुचि के अनुसार प्रियता-अप्रियता की बात होती है। यह बात सब को स्वीकार करनी ही पड़ेगी कि अधिकांश मामूली पाठक विवेकी नहीं रहते। वे कुछ खुश होना, उत्तेजना पाना और अपनी रागात्मक अनुभूतियों को गहरा बनाना—बस यही चाहते हैं। विवेकी पाठकों का दल रुचि-भेद और अन्य भेदों के कारण विभक्त रहता है। जब प्रगति होती है तब इन सभी की प्रगति होती है।

साहित्य के सेवक इस प्रगति को चुपचाप बढावा कभी नहीं देते। आलोचना के ज़रिए इस विकास को टोकने की कोशिश करते हैं। वे पाठक-वृन्द को सावधान कर देते हैं कि वह पथ अहितकारी है आदि। वे प्रयत्नशील हैं कि क्षुद्र कृतियों के कंटीले पौधे बढ़कर उत्तम कृतियों की कलमों को निगल न जावें। उनका प्रयत्न अनेक लोगों का

उपकार करता भी है। लेकिन इन आलोचकों के अंकुश की एक सीमा होती है। उनके अंतिम निर्णय कभी एकमत या शत-प्रतिशत उपादेय नहीं रहते, क्योंकि वे भी पूर्वाग्रह से दूषित हो सकते हैं या बहक सकते हैं।

प्रगति, खंडन, प्रतिक्रिया और विकास का यह क्रम हर देश में, हर क्षेत्र में, खासकर साहित्य के क्षेत्र में चलता रहता है। समुद्र में लहरों के उत्थान-पतन या दिनरात्रि के आवर्तन-प्रत्यावर्तन के समान यह बात भी शाश्वत है। इस शब्द का यहाँ अर्थ है—सतत प्रवहमान। इसलिये विकास को देखकर उसे एकदम रोकना संभव नहीं लगता। हिन्दी और हिन्दी साहित्य के विकास को देखकर ऐसी ही प्रगतिशील धाराओं को रोकने का प्रयास असफल ही हो सकता है।

हिन्दी के प्रसिद्ध कवि निराला की पंक्तियाँ इस प्रसंग पर स्मरण आती हैं—

बहने दो
रोक-टोक से कभी नहीं रुकती है
यौवन-मद की बाढ़ नदी को
किसे देख झुकती है
गरज-गरज वह क्या कहती है कहने दो-
अपनी इच्छा से प्रबल वेग से बहने दो।
सुना, रोकने उसे कभी कुंजर आया था।
दशा हुई फिर क्या उसकी ? फल क्या पाया ?
तिनका जैसा मारा मारा
फिरा तरंगों में बेचारा
गर्व गंवाया हारा।
अगर हठवश आओगे
दुर्दशा करवाओगे बह जाओगे॥

"आः! यह धरती कितना देती है"

विख्यात निबन्धकार डॉ० विद्यानिवास मिश्र ने 'इन टूटे हुए दियों से काम चलाओ' शीर्षक के निबन्ध में विश्वविद्यालयों की दुर्दशा पर दु:ख प्रकट किया है। इस दु:स्थिति का एक पहलू उनके लेखन में शायद स्थानाभाव से छूट गया है। इसका प्रत्यक्ष दर्शन मुझे हाल ही में हुआ। दक्षिण एशिया भाषाविद सम्मेलन मैसूर में संपन्न हो रहा था। भारत से बाहर के दस बीस लोग थे। शेष सब थे हमारी ही भाषाएँ बोलनेवाले। भारत सरकार लाखों रुपये प्रतिवर्ष भारतीय भाषाओं की प्रगति केलिए खर्च करती है। उस महान सेवा में लगी हुई एक संस्था के तत्वावधान में सम्मेलन चल रहा था। इस संस्था ने अनेक वैज्ञानिक एवं महत्वपूर्ण प्रकाशन भी निकाले हैं। किन्तु पूरे सम्मेलन में, सम्मेलन-भवन में, बाहर वार्तालाप में — सब जगह अंग्रेजी का वातावरण छाया था। धनी गृहस्थ की कृपा कभी-कभी जिस प्रकार गरीब आश्रित पर पडती है, उसी प्रकार भारतीय भाषाओं के शब्द अंग्रेजी निबन्धों में कभी-कभी आते थे। जो दृष्टिकोण और मनोवृत्ति दीख रही थी उसे देख लग रहा था कि भारतीय भाषाओं का भविष्य चिकागो या बर्लिन में ही शायद तय होनेवाला है। अपने दिये में तेल बाती समय पर लगाकर ज्योति बढाने का काम क्या हम कर नहीं पायेंगे? यह चिन्ता व दु:ख मन को बेधे जा रहे थे।

इस दमघोटू वातावरण से निकलकर अपनी वापसी यात्रा केलिये मैं मैसूर के बस स्टैंड पर आ गया। सबेरे का समय था। अखबार वाले लडके हांक लगा रहे थे। वे कन्नड, मलयालम, तमिष्, तेलुगु— कई भाषाओं के समाचारपत्र बेच रहे थे। ये नाम सुनकर मन ठंढा हुआ। कम से कम जनता ये सभी भाषाएँ चाहती है और कन्नड-भाषी

प्रदेश में भी मलयालम-भाषी, तमिष़भाषी आदि लोग रहते हैं । बस के चालक और कंडक्टर—दोनों यात्रियों से कन्नड़, मलयालम, तमिष़—सभी भाषाओं में प्रश्नोत्तर करते थे ।

कितने ही रास्ते

मैसूर से कोचिन आने के कई रास्ते हैं । प्रायः मैसूर से कन्ननूर जाते हैं । एक रास्ता मैसूर से कालिकट चलता है । तीसरा गूडलूर-निलंवूर-गुरुवायूर होते हुए ट्रिच्चूर चलता है । तीनों रास्तों में वन-भूमि पार करनी पडती है । फिर भी पहले दोनों रास्तों से दो चार दफ़े यात्रा कर चुकने से अब की बार गूडलूर के रास्ते से चलने का निश्चय किया । अखबार में गूडलूर के निवासी केरलीयों की खास चर्चा भी इस योजना का प्रेरणास्रोत थी । कन्नड-सरकार की बस में बैठ गया । भीड कम थी । बस में देवताओं की मूर्ति ड्राइवर की बैठक के सामने । फूलों का हार मूर्ति पर चढा है । ड्राइवर का आस्तिक मन शुभ-यात्रा का निशान जानकर मन ही मन खुश हुआ ।

सुगन्धी स्मृतियाँ

मैसूर की सुगन्धी स्मृतियाँ मन में मंडराने लगीं । मैसूर सुगन्ध का स्रोत है; चंदन और अगर का खजाना है । हाथी-दाँत का भी । गीत-गोविन्दकार ने चन्दन-चर्चित चारुकलेवर का विशेषण वनमाली को दिया है । जयदेव ने मैसूर के चंदन से ही अपने प्रभु के कलेवर को सजाया तो नहीं ? चंदन, चमेली, जुही, चंपा आदि भारतीय सुगन्ध स्रोतों के रहते विदेशी सेंटों पर लाखों रुपये बहानेवालों पर तरस आती है । चंदन-वृक्ष के कारण कर्णाटक प्रान्त के वन सब को आकृष्ट करते हैं । चंदन का स्मरण करते हुए केरलीय कवि चंगंपुषा की पंक्तियाँ याद आईं । उन्होंने चंदन-लता पर अधोमुख शयन करती एक फन और सहस्र तनवाली नागिन का चित्र खींचा है । चंदन में नागराज का निवास ! यह कहीं उस वृक्षराज को ईश्वर का वरदान तो नहीं ? सात्विक वस्तु को प्राप्त करने जब धूर्तों का दल आता है तब उन्हें बचाने का काम प्रभु ही कर सकते हैं । मगर यह संदेश ग्रहण करने के

बजाय धन-लोभी साहसी मानव जान जोखिम में डालकर चन्दन वृक्ष काटता-कटाता है । चंदन सरकारी संपत्ति है और इसे काटना दंडनीय है । फिर भी चालाक लोग जुदा-जुदा रास्ते से चंदन पडोसी प्रान्तों में पहुँचाकर मालामाल हो जाते हैं । चंदन मानव की अपेक्षा कितना धन्य है । लोग उसके शरीर को पीसते कूटते हैं, उबालते हैं, जलाते भी हैं । पर वह सारे धूर्तों को सुगंध का दान देता है । मानव शरीर से बदबू को छोड और कुछ नहीं निकलता ।

मैसूर के बस स्टैंड का एक खास माहौल अन्य प्रान्तों में नहीं मिलता । आपकी अगवानी केलिए बीसों युवक "सुगंधश्रृंगार"[१] लेकर हाज़िर मिलते हैं । वापसी यात्रा में शुभयात्रा की कामना 'परिमल'[२] से करने केलिये इतने ही लोग हाज़िर हैं । छोटी सी तीलियाँ आप के दिल को महँकाती हैं । आपके पूरे भवन को महँक देनेवाली नाजुक उँगलियाँ मैसूर-बैंगलूर के कस्बों और गाँवों में टूटी झोंपडियों में माटी के दीये के सामने बैठी अगर का सुगन्धी मिश्रण तीलियों पर चढाती धूप में सुखाती रहती हैं । एक जून की रोटी ज़रूर उन्हें मिल जाती है ।

मैं चन्दन-चिंतन में डूबता उतराता रहा कि गाडी नंजनगूड पहुँच गई । नंजेश्वर महादेव का पवित्र मंदिर यहाँ स्थित है । इस नगर से वर्षों से सस्ता लोकप्रिय दातौन चूर्ण पूरे भारत में जाता रहा है । कर्नाटक के इतिहास में इस स्थान का विशेष उल्लेख है । पर मैसूर से निकले मुश्किल से घंटा भी नहीं बीता था कि करीब आधी घडी केलिये बस का विश्राम ? लेकिन यहाँ जो ज़ायकेदार काफी मिली उसने मेरी शंका का निवारण कर दिया ।

डाबों का अंबार और नये मिडास

केरलवासी कर्नाटक-प्रदेश की यात्रा करते हैं तो उनका दंभ दूर हो जाता है । केरलीय अपने कल्पवृक्ष नारियल के पेड की प्रशंसा

१,२. अगरबत्ती के नाम

स्वयं करते-करते कभी नहीं अघाते। लेकिन वे कर्नाटक में सडक सडक पर डाबों का अंबार देख शरम से गड जाते हैं। कर्नाटक के ये डाब यात्रियों के मुँह को मीठा करते हैं. दिल को ठंढा भी। केरल इस विषय में कृपण है। केरलवासी इस किस्म का नारियल नहीं उगाते। वे व्यावसायिक दृष्टि के कारण फलों पर ही ध्यान देते हैं।

नगर की सीमाएँ पार करने पर चौडी सडक की दोनों तरफ़ हरे-हरे खेत मखमली दरी बिछाये आपका यात्रामंगल मनाते हैं। बंबई, कलकत्ता, मद्रास जैसे नगरों की अट्टालिकाओं के स्वर्ग और उन्हीं को छाँह में चालों के नरक मिलते हैं। नगरवासी अपने प्रकृति-प्रेम के चिह्न के रूप में घर के भीतर मणिप्लांट और कैकटस गमलों में पालते हैं। नगर के बीच में जहाँ तहाँ पार्क नामधारी गोल घेरे बनते हैं ताकि लोग एक तो साँस की घुटन से मर न जायँ, दूसरे यह भूल न जायँ कि प्रकृति किसे कहते हैं। नागरिक मनोवृत्ति व्यवसाय और धनार्जन पर अधिक बल देती है। स्वयं व्यावसायिक कुशलता हो न हो, इस दृष्टि से सोच लेते हैं। नगर के बाहर वीरान से पडे इन खेतों को देखकर व्यावसायिक कुशलता की मिडास मनोवृत्ति सहज ही जाग सकती है। राजा मिडास को जब परी ने दर्शन दिये और वर मांगने को कहा तब मिडास ने प्रार्थना की कि जिस किसी को मैं छू दूँ वह सोना बन जाय। परी ने वर दिया। मिडास ने मेज़ को, कुरसी को छूकर देखा। सब सुनहले हो रहे थे। वह बहुत खुश हुआ। मगर जब उसके छूने से गेहूँ की रोटी भी सोना बनी, उसकी अपनी लडकी जड़ स्वर्णमूर्ति बनी तब मिडास पागल हो गया। आजकल मिडासों की धूम है। बिहारी ने सही-सही कहा था—या पाए बौराए। पाठांतर होना चाहिए—या देखे बौराय।

सपने का बुलबुला

कहते हैं कि खाली दिमाग शैतान का घर होता है। मेरे दिमाग में शैतान सचमुच घुस गया। मैं हवा के हिचकोलों से मस्ती में आकर कुछ ऊँघ गया। मेरे सामने आलीशान कारखाना दिखाई दे रहा है।

कारखाने में मशीनों की घरघराहट सुनाई दे रही है । मेरा चपरासी मेज़ पर भारी डाक लाकर रखता है । हर चिट्ठी में मेरे कारखाने में बनी चीज़ों का आर्डर है । एक चिट्ठी सरकार की है जो मुझे 'उद्योग-पंडित' की उपाधि देना चाहती है । थोडी देर में डाक देखकर मैं अपनी बेन्स गाडी में बैठ जाता हूँ । बगल में मेरी श्रीमती भी है । स्वयं गाडी चलाते हुए प्रेयसी से इश्क की बातें करने लगता हूँ तो अरसिक पत्नी कह रही है कि आइने में अपने बालों को देख लीजिए । मुझे बेहद गुस्सा आता है । मेरा हाथ चक्के से छूटकर उसे थप्पड देने आगे बढ़ता है । यह क्या. क्रीच की आवाज़ । हमारी गाडी एकदम झोंका खाकर रुक गई । मेरी नींद खुल गई तो देखा, एक बुढिया सडक को काटते हुए हमारी गाड़ी के नीचे दबने जा रही थी । ड्राइवर ने बडी मुश्किल से उसे बचाया । क्रोध के कारण ड्राइवर के श्रीमुख से कन्नड में गालियाँ निकल रही थीं । अब मैं ने समझ लिया कि केरलीय जैसा और मुझ से मलयालम में बातें करनेवाला यह व्यक्ति असल में कन्नडभाषी है । मातृभाषा में जितनी ज़ोरदार गालियाँ दी जा सकती हैं उतनी अन्य भाषा में नहीं चल सकती ।

गाडी की रफ़्तार फ़िर से तेज़ी पकड़ने लगी । मेरी बगल में कोई नहीं था, जिसपर खास खुशी हो रही थी । दु:ख भी था कि गाल पर पडती तेज़ धूप का अनुभव करने पडोसी नहीं रहा । आगे अधेड दंपती पास-पास बैठे थे । पत्नी का शीर्ष एक-ताल पर पति के कंधे की शक्ति-परीक्षा कर रहा था । पीडित पति मौन था । शायद वह मन में खुश था कि मेरी प्रिया मेरी भुजाओं की शक्ति पर कितनी आस्था रखती है । उस सज्जन की हालत को दूसरे हमदर्दी से देख रहे थे तो वह कभी-कभी मुडकर देखता था । मानों पूछता हो—मेरे इस असुलभ भाग्य पर ईर्ष्या करने से क्या लाभ ?

कन्नड गाँव और अंग्रेज़ी का प्यार

मीलों तक फैले खेतों तथा वीरान प्रदेश के बीच-बीच छोटे-बडे गाँव और दूकानों की कतारें आती थीं । कपडे की दूकानें—'एक दूजे

केलिए' का कैसेट बजानेवाले नानवेजिटेरियन होटल — अन्य छोटे-छोटे व्यापार-भवन! गांव का नाम कन्नड में होता था—दूकानों के नाम अंग्रेज़ी में। गाँवों में ये अंग्रेज़ी नाम अधिक चलते हैं क्योंकि गाँववाले अपनी कमज़ोरी को इस उपाय से दूर करना चाहते हैं। इसलिए आप को इन स्थानों पर 'टेकस्टाइल पैरडैस', होटल बुहारी, मार्डन स्टोर्स, पैरीस टेलर्स और 'डीलक्स सैलूण' नामपट्ट मिलें तो मत घबराइए।

अब हम कुछ धीमी गति पर थे। गाडी घरघराती बढ रही थी। चढाव! चढाव! तारपुती सडक पर पैदल मुसाफिर ईद के चाँद जैसे! मोटे तगडे सागौन के पेड! अन्य छोटे-बडे पेड भी! हरियाली के बीच में जले कटे पेड के निशान भी। ज्यों-ज्यों ऊँचाई बढती गयी त्यों-त्यों दोनों तरफ़ की गहराइयाँ अधिक गहरी लगीं। पेड-पौधों के वन से झींगुर का नाद सुनाई देने का आभास हो रहा था। ऐसे दुर्गम स्थानों पर पहले-पहल सडक बिछानेवाले साहसी इंजिनीयर और उन्हें सहयोग देनेवाले मेहनती मज़दूर स्मरण आये। कोई नहीं पहचानता कि वे कौन थे। नगरों में शहीद स्तंभ बनाये जाते हैं जिन पर युद्ध में वीरगति पाये हुए और स्वतंत्रता-संग्राम में प्राण निछावर किये हुए लोगों के प्रति श्रद्धांजलि के शब्द लिखे रहते हैं। स्वाधीनता-दिवस पर तथा विशिष्ट अतिथियों के आगमन पर यहाँ पुष्प-चक्र अर्पित होते हैं। पुष्पचक्र के समर्पण के फोटो अखबारों में छपते हैं। तो लोगों के शहीद होने से देश की आज़ादी के अलावा फोटो-ग्रहण के रूप में देशभक्ति प्रकट करने का अतिरिक्त सुअवसर भी मिलता है।

काश! मैं एक वनस्पति-विज्ञानी होता!

अब हम वन का सा दृश्य दोनों तरफ देख रहे थे। काश! मैं एक वनस्पति-विज्ञानी होता। हम नगरवासी कितने निराले व निकम्मे हैं! एल साल्वडोर और ज़िबाब्वे के राष्ट्रपतियों के नाम हमारे छोटे छात्रों तक को कंठस्थ हैं। किन्तु हमारे प्रदेश के छोटे-बडे पेड-पौधों के नाम कम याद रहते हैं। वनस्पति-लोक के ज्ञान के अभाव में सडक पर बारंबार आते किलोमीटर-स्तंभों को ध्यान से पढने से बढकर कोई

बेहतर काम नहीं हो सकता। सरकार ने यात्रियों को दूरी की जानकारी केलिए जो खूँटे बनाये हैं उनसे बच्चों और बडों के मनोरंजन पाने का पता शायद सरकार को भी नहीं। वे स्तंभ किशोरों को आपस में बाजी लगाकर गिनने का मनोरंजन देते हैं। मील स्तंभों को अपनी गाडी के साथ दौडते देख बच्चों को अपार हर्ष होता है। जब दृश्यों की एकांगिता से थके नयन बंद होते हैं और हम घंटों तक आँखें मूंदे रखने का दावा करते हुए भी पाँच दस मिनिट बाद ही नयन खोलते हैं, तब मील-स्तंभों की संख्या में विशेष वृद्धि न पाकर हमारा मन कुढता है। फिर से साधना शुरू होती है और भंग भी।

किलोमीटरों की संख्या में खास सुधार न होने पर भी एक नया अतिरिक्त नाम बोर्ड पर नज़र आने लगता है। 'ऊटी'—हर दक्षिण भारतीय की स्वप्न-भूमि! जैसे उत्तर भारतीय केलिए काश्मीर का श्रीनगर। ऊटी का नाम बारंबार पढने और ऊटी की कई गाडियों को हमें पार करते जाते देखकर मन में बडी ही अधीरता अनुभव होती है। क्यों ऊटी ही चला न जाय। अपने बस को रोककर चिल्लाने की इच्छा होती है— "हम ऊटी जाएंगे। तुम हमें गलत रास्ते क्यों ले जा रहे हो ?"

उदकमंडल और ऊँट

गाडी अब बडे गाँव के बडे चौराहे पर पहुँच रही थी। यहीं से ऊटी का रास्ता हमें छोड दूसरी दिशा में जा रहा था। ऊटी की जगह तमिष् में "उदकमण्डलम" लिखा था। कितना प्यारा शब्द है! इसे अंग्रेजी ने बिगाडकर ऊटकमंड बना दिया मानों ऊँट से इसका कोई नाता हो। उदकमण्डलम तमिष्नाड की गौरवभूमि है। यह उस प्रान्त का प्यारा पर्वतीय नगर है। वनवासी आदिवासी ही इस ऊँचे पहाडी स्थान के मूल निवासी थे। उनकी गँवारू भाषा एक ही रही होगी। मगर देश-विदेशी राजाओं और रजवाड़ों के स्वार्थ और अन्य सामाजिक कारणों से एक ही पर्वत प्रदेश कितने खंडों में बँट गया! यहाँ से मुश्किल से पचास साठ किलोमीटर दूरी का पहाड तमिष्-भाषी तमिष्

नाडु कहलाता है और यह स्थान कन्नड़-भाषी । कर्नाटक और तमिषनाडु के पेड कन्नड व तमिष़ नहीं बोलते ! इसी को गनीमत मानिए ।

गूँगे पेड

हम फिर से वनभूमि से ही जा रहे थे । पर धूप, तारकोल-पुती सडक और सड़क की यात्रा से ऐसा महसूस नहीं हो रहा था । बहुत सारे पेड कट चुके हैं । कुछ के काले राख के अवशेष ही सडक पर छाये हैं । गहन वन का अनुभव सडकों को छोड भीतरी पगडंडियों से चलते समय ही हो सकता है । कारण यह कि वन के गूँगे पेड नगरवासियों के सुखी जीवन पर निछावर हो रहे हैं । देश-विदेश के संभ्रान्त परिवारों का स्वागत-कक्ष इन वृक्षों के बलिदान की कथा सुनाता है । वृक्षों के नष्ट होते-होते ऊर्जा-संकट की समस्या टेढी बनती जा रही है । वृक्षों के नष्ट होने से सूखा, भूक्षरण और बाढ की संभावना से लोगों को आगाह करते हुए पेडों से चिपके रहकर वृक्षों को बचाने का उपदेश दिया जा रहा है । "अधिक पेड उपजाओ' और 'अधिक अन्न उपजाओ" वाले पोस्टर हर जगह लगवाकर सरकार भी वृक्षों में अपनी दिलचस्पी दिखाती है । मगर मानव के स्वार्थी नाखून भीतर हो भीतर बढते जाते हैं । इस दिशा में वह शरीफ़ बेहया निकला है । चोरी भी करता है । चोर चोर चिल्लाता भी है ।

चढे तो चाखे प्रेम रस

मेरी आँखों में किर किरी डालनेवाला 'ऊटी' शब्द अब नज़रों से हट गया है । हम गंतव्य दिशा में बढते जा रहे थे । सूखे वन का नज़ारा बदल रहा था । हरे हरे टीले, हरी-भरी ढलान, हरे-हरे खेत मिलने लगे । प्रकृति का तराजू हमेशा संतुलन रखता है ! हर टीले की बगल में खड्ड । जितना ऊँचा टीला उतनी गहरी खड्ड । कबीर कितनी सही बात कहते हैं— "चढै तो चाखै प्रेम रस गिरे तो चकना चूर" । प्रेम-रस चखें न चखें, यहाँ कोई गाडी ज़रा भी फिसले तो चकना-चूर हो जाय । कितनी हरियाली ! हिन्दुस्तान की सारी मिलें सालों तक

बुनें तो भी इतनी बडी और हरी चादर बन नहीं सकेंगी। अब मैदान भी दूर दीखता है। जहाँ तहाँ मद्धिम आकार के अकेले घर-कहीं घरोंदों का गुच्छा। अकेले घर सूट-बूट पहनने के लिए उतावले हैं। घरोंदे भारत की औसत जनता की आर्थिक स्थिति का परिचय देते हैं। मैं ने जिस स्थान के बारे में सुना था और जिसे देखने इस रास्ते चला था, वह स्थान मेरे सामने था—गुडलूर।

बस धीमी चाल से बस के अड्डे की तरफ़ जा रही थी। यहाँ केरलीय भाई-बहन दिखाई दे रहे थे। केरलीय को पहचानना बहुत मुश्किल नहीं है। सरल वेश के साहसी केरलीय हर कहीं अपने पुरुषार्थ को मुखमण्डल पर धारण किये रहते हैं। जहाँ ये बसते हैं वहाँ एकाध छोटे-बडे गिरजे भी बन जाते हैं। टेढे टीले पर पथरीली पगडंडी से चढते केरलीय पादरी साहब को देख अनायास ईसाई धर्म के प्रचार का कारण समझ में आया।

गुडलूर में केरलीय

गुडलूर का भूभाग भाषावार प्रदेश-विभजन के अनुसार कर्नाटक प्रदेश में पडता है। सदियों के पहले ये पर्वत-वन दुर्गम थे। जंगली जानवरों का धावा और मलेरिया का प्रकोप। आदमियों को यहाँ आने की हिम्मत नहीं होती थी। उन्हीं दिनों केरल के-खासकर ट्रावंकोर के कुछ साहसी ईसाई परिवार प्राणों पर खेलकर इस वनभूमि पर जीविका की खोज में पहुँचे। श्री० एस. के. पोट्टेक्काट के शब्दों में यह विषकन्या उन भू-प्रेमियों को लुभाती थी, पर अंत में मारक रोग या जंगली जानवरों के ज़रिये उनके प्राण हर लेती थी। फिर भी साहसी आदमी मैदान छोडने तैयार नहीं हुए पीढियों के बलिदान के बाद उन्होंने विषकन्या को अमृतकन्या बना दिया। सोना फलने लगा। रबड़, संतरा, चंदन, काली मिर्च, कप्पा—जिसकी खेती हो सके करते थे। यों केरल के आँसू और खून इन भूभागों की ज़मीन में घुल गये। बीहड वनों पर खेती करने आये लोगों ने पट्टे की चिन्ता बहुत ज्यादा नहीं की। उन्होंने ज़मीन बसाई, बस्ती भी। यहाँ पीढ़ियाँ आगे बढीं।

विष और अमृत

वीरान जंगल की जगह सरसब्ज़ बाग देखकर स्वार्थ व हित के विषय में लोगों में टकराहट शुरू हुई। भाषावाली दीवार को बीच में खडा कर दिया गया। पट्टा व अधिकार की बहस होने लगी। राजनैतिक शतरंज के खिलाडियों ने इस समस्या को मुहर बना लिया और चाल पैंतरे करने लगे। चखचख चलती ही रही है। अपनी संतानों की सुरक्षा के लिए केरल सरकार कर्नाटक सरकार से अपील करती रही है। समझौता और द्वन्द्व की स्थिति जारी ही रहती है। इस स्थान की समस्या पर अधिक जानने का कुतूहल होने पर भी विवश था।

इन पहाडी भूभागों और देहातों में हाट या चौराहा ही बस का अड्डा भी बनता है। जलपान के लिए उतरे यात्री आसपास के दृश्य का आनन्द लेने लगे। थोडी दूर एक हरा हरा टीला है—लगता है चाय का छोटा बागान है। गाँव के इस चौराहे पर नगर अपने सारे वरदान लेकर आ गया है। हाईस्कूल, सिनेमाघर, बैंक, अस्पताल आदि यहाँ भी हैं। केरल के ईसाई बंधुओं की परिश्रम-शीलता का प्रत्यक्ष प्रमाण इन अस्पतालों, स्कूलों में प्राप्त होता है। ये बैंक अब धन को लेन-देन का सरल माध्यम बन गये हैं। देहाती बनिया या जौहरी के हाथ गहनों को गिरवी रखकर हमेशा के लिए कर्ज़दार होनेवाले देहातियों की शोकांतिकाएँ अब बुजुर्गों के किस्सों में ही मिलती हैं। चौराहे पर कुछ संतरे लिये। सीधे बगीचे से शायद तोड लाये गये थे। फ्रिज से लिये फल की तरह ठंढे और मीठे। उनकी मिठास जीभ को जैसे खुश कर रही थी, वैसे ही ठंड़क दिल में तरावट ला रही थी। सस्ते तो नहीं। यहाँ घरों के अहातों व बागानों में संतरे फलते हैं। फिर भी नगरों की व्यावसायिकता देहातों को भी लील रही है।

वनजीवी आदमियों से डरें?

मेरा ख्याल था, गुडलूर पार करतेही केरल प्रदेश प्रारंभ होगा। भौगोलिक ज्ञान कम था। थोडी दूर बाद कन्नड के वन-विभाग ने हमें

धन्यवाद और पुनरागमन का निमंत्रण लिखित रूप से दिया। एकाध फर्लांग आगे देखता हूँ—बोर्ड पर लिखा है—तमिष्नाड प्रारंभ हो रहा है। "मुदुमलै सांक्च्वरी"। मुदुमलै का वन्य जीवों का शरणकेन्द्र। प्रकृति एकता का सन्देश देती है। मानव भेदभाव का चश्मा पहनकर विद्वेष बढा लेता है। देखिए न! कावेरी नदी अपना मीठा पानी कर्नाटक, तमिष्नाड और केरल के लोगों को समान प्रेम से पिलाती आगे बढाती है। परंतु तीनों प्रदेशों के मुख्य मंत्री कावेरी जल के अधिकार के बँटवारे पर बहस करते हैं। फिर से अगली बार और चर्चा केलिए बिदा लेते हैं।

मुदुमलै का बोर्ड मुझे कुछ विचित्र लगा। लिखा है—वन्यजीवों का अभयकेन्द्र। यहाँ जानवरों का शिकार करना—गोली मारना मना है। मुझे सूझ रहा था—यहाँ उलटा बोर्ड चाहिए—"यात्रियो, वन्य जीवों से सावधान।" वन में आदमी की क्या खैरियत? अगर कोई चीता महाशय दिन दहाडे आ जाय और हम यात्रियों से हाथ मिलाने केलिए विशेष उत्सुक हो तो यही लाभ होगा कि हमारे घरवालों को बीमा कंपनी पैसे भेजेगी। मगर यहाँ तो अधिकारियों ने आदमियों को अधिक भीषण घोषित किया है। टाल्स्टाय की कहानी के लोभी आदमी की तरह नगरवासी ज़मीन के लोभ से वन-वन को उजाडते जा रहे हैं। जंगली जानवरों के रहने के स्थान नष्ट होते जा रहे हैं। प्रकृति का संतुलन बनाये रखने केलिए इन वन्य जीवों की ज़रूरत स्वीकार की गई है। उन्हें सुरक्षित रखने केलिए धूर्त नरों की गोलियों से उन्हें बचाना पडता है। यही कारण है कि देश में भिन्न-भिन्न स्थानों पर सरकार ने वन्यजीवों के अभय-केंद्र खोले हैं, जहाँ वन्यजीव प्राकृतिक वातावरण में शान्तिपूर्वक रह सकें। सुनते हैं कि लोग विषैले नागों को सैकडों की तादाद में पकडकर उनकी खालें विदेशों को भेजते हैं। कहते हैं—इन खालों से बने बटुओं में रमणियाँ अपने प्रिय को फँसा लेती हैं। लोभी मानव हाथियों को ज़हर खिलाकर मारते और उनके दांत बडी निष्ठुर प्रणाली से निकलवाकर मुँह-मांगे दाम पर बेचते हैं। ऐसे महात्माओं के सामने ये हिंसक जीव गऊ हैं।

पैरों पर छाले—आँखों में काजल

अब सडक पर युवतियाँ और लडकियाँ चल रही थीं। प्रकृति की गोद में रहनेवाले इनका जोवन सरल व सीमित है। सरकार ने इनके लाभार्थ ट्रैबल स्कूल खोले हैं जहाँ नयी पीढी तैयार हो रही है। शिक्षा से इन्हें वंचित न रहने दिया जाता। मगर ये शिक्षा के साथ-साथ नगरवासी की कृत्रिमता व धूर्तता सीख लें तो दुगुनी हानि की संभावना है।

मुदुमलै की वनराशि के बाद हम पर्वतीय प्रदेश से रम्य भूप्रदेश या मैदान की तरफ़ आ रहे थे। उतार-मोड-उतार-मोड़-एक तरफ़ ऊँची पहाडी-दूसरी तरफ़ दूर दूर तक पाताल की गहराई छाई है।—उसकी गोद में पेड-पौधे और खेत भी। चढाई से उतार कितनी आसान थी! चलते चलते हमने देखा कि कई देहातिनें सिर पर लंबे बाँसनुमा लट्ठे लिये जा रही थीं। स्पष्ट था, ये मीलों तक चलकर देहात की हाट में ये लट्ठे बेचेंगी। बाज़ार में बेचने के बाद नोन तेल रोटी की चोज़ें खरीदेंगी। जरूर काजल, चूडियाँ भी लेती होंगी। जहाँ पहले देहातियों की बातचीत में प्रभुओं की विलासलीलाओं का वर्णन आता था वहाँ अब ये स्त्रियाँ अपनी देखी फिल्मों के नायक-प्रेम नज़ीर या मधु और नायिका शीला या लक्ष्मी आदि का वर्णन करते-करते रास्ते की थकान भुलाती होंगी।

आ:! यह धरती कितना देती है

नगर में सुस्ती, ऐश आराम, दिखावट और एक दूसरे को काटने की इच्छा से जीवन-नाटक में खल-पात्र की भूमिका निभानेवाले हम यदि इन वन-भूमियों, गाँवों का चक्कर बारंबार लें तो हमारी आँखें खुलें। भाषा के नाम पर आपस में झगडा करनेवाले हम सुजला सफला मलयज-शीतला सस्यश्यामला प्रकृति की गोद का सुख, थोडी देर ही सही, अनुभव कर सकें तो पतंजी की वाणी हमारे मुंह से भी निकलेगी—"आ:! यह धरती कितना देती है।"

गुलमर्ग का शेरखाँ

'रीडर्स डाइजस्ट' पत्रिका के स्तंभों में अन्यतम है—'अविस्मरणीय।' निषेधात्मक 'अविस्मरणीय' शब्द के बदले 'स्मरणीय' शब्द अधिक उचित तो लगता है। किन्तु यह नकारात्मक शब्द इस बात पर जोर देता है कि हम अमुक चीज को भुलाना चाहने पर भी भुला नहीं पाते। स्मरणीयता पात्रों की श्रेष्ठता या गुणपुष्कलता पर ही निर्भर नहीं रहती। मन पर अमिट प्रभाव डालने की क्षमता ही स्मरणीयता है। इन दिनों रीडर्स डाइजस्ट के इस स्तंभ के पन्ने जब पलटता था तब उन पन्नों के छपे अक्षरों को आगे पढना मुशकिल हो जाता था। पन्ने-पन्ने में एक मूर्ति मेरी ओर बडी आत्मीयता व प्रेम से देखती नजर आती थी गुलमर्ग के शेरखाँ की। इसलिए सोचा कि उसे अपनी टेढी-मेढी रेखाओं में हो सही-खींचकर किसी स्थान पर स्थापित कर दूँ। उसके बाद अगला स्तंभ शान्ति से पढ सकूँगा।

मेरी कश्मीर-यात्रा की सबसे बडी उपलब्धि गुलमर्ग थी। गुलमर्ग याने फूलों की घाटी पर्यटकों को सब से प्रिय है। श्रीनगर से २५ मील दूर समुद्र तल से ३५०० फुट ऊँचाई पर स्थित गुलमर्ग का नाम सुनकर पहले मेरे मन में सूझा कि यह कोई मामूली केन्द्र होगा, कुछ होटल व फोटो-स्टुडियो होंगे। रास्ते में भी खेतों के सिवा कोई खास दृश्य नजर नहीं आया। जी में कुछ निराशा छाने लगी। इसी हालत में हम टंगमर्ग की ऊँची भूमि पर पहुँचे। गाडी के रुकते ही कुछ जवान यात्री झटपट गाडी से उतरे और कहीं गायब हो चले। चाय नाश्ते के बाद गाडी टंगमर्ग से जब आगे बढी तभी मालूम हुआ कि इस विश्राम की क्या जरूरत थी और वे युवक कैसे गायब हो गये। टंगमर्ग से गुलमर्ग को मोटर-यात्रा का प्रबंध इधर कुछ वर्षों के पहले ही हुआ

था। उसके पहले यात्री टंगमर्ग से पैदल और घोडे पर ही गुलमर्ग पहुँचते थे। हमारी गाडी मंथर गति से क्रन्दन करती ऊँची टेढी पहाडी सडक पर बढती मोडों पर सावधानी से मुड़ती फिर से ऊँचाई की तरफ़ चलती रही। ज्यों-ज्यों गाडी ऊपर चढती त्यों-त्यों और अधिकाधिक विस्तृत भूभाग छोटा बनता नज़र आता। चीड के पेड हरे-हरे खंभे से दीखते। कश्मीर की घाटी नाम सार्थक लगा। करीब छः सात मील की दूरी ही थी। पर सावधानी से धीरे-धीरे बढती ऐसी एक बिंदु पर पहुँची जहाँ एक मंडप सा बना था—झाँकी देखने का। उस मंडप पर खडे होकर सुन्दर हिमाचल के अनेक शृंग देख सकते थे। किसी किसी शृंग पर श्वेत-श्वेत हिमराशि सूर्य-किरणों से उज्ज्वल हो उठी थी। नीचे वृक्षों का संसार और उस संसार के नीचे कहीं छोटी-छोटी दरार में लकीरों सी छोटी-छोटी झोंपडियाँ नज़र आती थीं। पथ-प्रदर्शक पहाडी शृंगों के नाम और पंथ बताता जा रहा था। मगर गंभीर व मौन प्रकृति के दृश्य के आनन्द के मुकाबिले में तुच्छ नामों का क्या महत्व था? आखिर ये पथ-प्रदर्शक अपनी झूठी सही जानकारी के आधार पर गप्पें भी मारते थे।

गाडी जब गुलमर्ग के खास अड्डे पर पहुँची तब छोटे-बडे बीसों लोगों ने हमें घेर लिया। प्रत्येक के पास एक घोडा था—घोडा ले चलने की लाइसेन्स का बिल्ला बायें हाथ पर बांधे चलता था। हर एक का एक ही सवाल था—"बाबू घोडा?" हम घोडे? शुरू में इस सवाल का पूरा मतलब समझ में नहीं आया। कहीं गुलमर्ग में घोडों का बाज़ार तो नहीं लगता? बात कुछ और थी। गुलमर्ग से आगे पर्वतीय प्रदेश में काफी अच्छें व स्मरणीय स्थान हैं। उन पर सामने बर्फ देखने का प्रलोभन भी रहता है। गुलमर्ग से आगे खिलनमर्ग, खिलनमर्ग से भी आगे अन्य स्थान हैं। पत्थर अल पत्थर पर उपेन्द्रनाथ अश्क जी ने बडा रोचक उपन्यास लिखा है। टूरिस्ट को घोडे पर बिठाकर उसके साथ दौडना और अच्छे-अच्छे स्थान दिखाना—गुलमर्ग के गरीबों का पेशा है। तेरह-चौदह वर्ष के लडके से लेकर साठ बरस के लोग तक इस धंधे में लगे हैं। जब घोडा ले दौडना मुशकिल हो जाता है तब पैदल

यात्रियों को घुमानेवाले गाइड का काम करते हैं । वे यात्रियों के बच्चे और बोझ अपने कंधे पर लिये साथ चल पडते हैं ।

हम सवेरे दस बजे गुलमर्ग पहुँच गये । शाम को साढे तीन बजे ही लौटना था । इसलिए आराम से भटक टहल सकता था । कश्मीर में हर कहीं एक बढिया चीज़ सस्ती मिलती थी—सेव । पूर्वजों की प्रक्रिया से एक सेव चखता हुआ सामने होटल की छत्र-छाया में थोडी देर बैठा रहा । यात्रियों को धूप और हलकी वारिश से बचाने के लिए यहाँ मोटे कपडे का गोल छाता सा बनाकर उसके नीचे कुरसियाँ लगाते हैं । यहाँ की हिमशीतल नहर के जल में कोकाकोला और फैंटा की बोतलें घंटे दो घंटे रखकर शीतीकृत बनाने की जो प्रक्रिया मिली वह बडी अनोखी लगी ।

बस के अड्डे से थोडी दूर आगे बढने पर बाईं तरफ़ लकडी के बने छोटे- बडे मकान मिले । सब की छत राँगे के पनारीदार तख्तों से मढी थी । ये सब विदेशी फैशन के महँगे लॉज होटल थे । महँगे और टीन की छत में कोई मेल नहीं लग रहा था । पूछने पर मालूम हुआ, हिमपात के समय गिरनेवाले बर्फ के बडे-बडे तख्ते इन टीन के तख्तों पर जम नहीं पाते, नीचे फिसलते व गलकर बह जाते हैं । खपरैल या काँकरीट के छत यहाँ बेकार हैं । पुराने ढंग के मकान और वर्तमान युग में गरीब के मकान एक अजीब छत से इस समस्या को सुलझाते हैं । कश्मीर की खास लकडी की छत बनाकर उसके ऊपर यहाँ की एक खास घास बिछाकर उसके ऊपर मिट्टी की घनी तह से ढकते हैं । कहते हैं—यह मिश्रण इतना मज़बूत होता है कि बर्फ़ इसे कुछ कर नहीं पाता ।

सामने लंबा-चौडा मैदान खुला पडा है । मेरे पथ-प्रदर्शक कुली शेरखाँ ने बताया कि यहाँ जाडों में गोरे साहब लोग स्केटिंग का खेल खेलते हैं । दूसरे मौसम में गोल्फ खेलते हैं । ब्रिटिश शासन के ज़माने में अंग्रेज़ और धनी देशवासी फैशन-परस्त लोगों की भीड यहाँ लगती थी । वे गुलमर्ग से टंगमर्ग तक स्कीइंग करते उतर आते थे । ज़िन्दगी में खतरे का सामना करने और मज़ा लूटने में भी वे आगे थे । गुलमर्ग

में अब भी मार्च से अक्तूबर तक यात्रियों की बडी भीड लगती है। गोल्फ मैदान के सामने और दूसरे पार भी शानदार लॉज-होटल हैं। हरा-हरा मैदान बडा रमणीक है। आजकल अंतर्राष्ट्रीय स्तर के पर्यटकों के अलावा और एक तरह का दल गुलमर्ग पर बराबर पहुँचता है—फिल्म कंपनियों का दल। मुहब्बत के नज़ारे फिल्म में उतारने—प्रेमी-प्रेमिकाओं के मिलने-दौडने-चहल-कदम करने—कभी घोडी पर सवार होने—घोडी से गिरती नायिका को सहारा देकर बचाने का इतना अच्छा स्थान और कहाँ मिले? और तो और, फिल्म-तारिकाओं के अभिनय की कमज़ोरी को भी हिमाचल की गांदी की प्राकृतिक छटा अपने सौन्दर्य से भुला सकती है।

फिल्म कंपनियों की बात कहते-कहते शेरखाँ अपने को भी मानों भूल गया। वह अंग्रेज़ी-मिली खिचडी जबान में बताता गया—"साहब! सामने जो होटल है ना उसी के पास 'बाबी' फिल्म का शूटिंग हुआ था। लड़की लोगों का बस अमुक जगह रुका। रिषी कपूर और डिंपिल यहीं से घोडे पर चढे थे।" और भी कई फिल्मों के नाम वह सुनाता रहा। दक्षिणी भाषाओं की फिल्मों के निर्देशक भी अपनी अपनी रंगीन फिल्मों की मोहकता बढाने काश्मीरी घाटियों में पहुँचते हैं।

मैदान से थोडी ऊँचाई पर यात्रियों के मनोरंजन केलिए "चेयरसीट" की व्यवस्था देखी। इसे "रोपवे" कहना भी उचित है. करीब दो फर्लांग की दूरी तक पहाडियों पर गहराई में गाडे लोहे के स्तंभों पर इस्पाती डोरों के सहारे लटकाये कठघरानुमा झूलों पर यात्रियों को बिठाकर बिजली-चालित रोपवे से इस दूरी का चक्कर लगवाते हैं। झूले प्रत्येक पाइंट पर झनझनाते आगे बढते हैं। आप एकदम बडी ऊँचाई पर बैठे चारों तरफ की सस्य-श्यामला पर्वतीय प्रकृति का दर्शन करते हैं। हमारा मन अयाचित रूप से हिमाचल की व्यापकता पर मुग्ध होता है और हम कह उठते हैं—"आ: धरती कितना देती है।" ऊँचे हिमाचल के इस प्रदेश में मानव को यांत्रिक झूले का आनन्द देनेवाले वैज्ञानिक की कुशलता को बधाइयाँ देते हुए ही हम वहाँ से लौट सकते हैं।

हम दोनों—शेरखाँ और मैं—थोडी देर में ही बडे मित्र हो गये हैं। वह अपने और दूसरे घोडेवालों का दास्तान मुझे सुनाता है। टंगमर्ग पर शेरखाँ जैसे लोगों के परिवार रहते हैं। टूरिस्टों के मौसम में यात्रियों की सेवा से जो कुछ मिलता है वही उनकी रोटी का अकेला रास्ता है। अच्छे दिनों में पचास, साठ और उससे भी ज़्यादा कमानेवाले कम नहीं हैं। ये छोटी उम्र से घोडे की सवारी और घोडे की पीठ पर यात्री को बिठाकर उनके साथ दौडते हुए सवार को घुमा लाने की कला सीखते हैं। इनके घोडे प्राय: शान्तिप्रिय हैं, धोखेबाज़ नहीं होते। घोडेवाला जैसा इशारा देता है वैसे ही चलते हैं, मगर नये यात्री इन पर बैठकर जोश में आते हैं और घोडे की बगल में वे कुरेदते हैं, तब घोडा भी संयम भूलकर सरपट दौड पडता है। ऐसे मौके पर नज़ारा ऐसा दीखता है, मानो बैठे घुड-सवार साहब ने घोडे के साथ घोडेवाला नामक जीव को भी खरीद लिया है। अत. उसे इसकी क्या चिन्ता कि मेरे साथ एक इन्सान टीले पर हाँफता हाँफता दो रोटी केलिए दौड रहा है। वैसे इन घोडेवालों को इस कला का खूब अभ्यास रहता है और ये नहीं थकते। जब यात्री नये होते हैं और जोश बेहद बढता है, तब वे घोडे की पीठ से धरती पर साष्टांग दंडवत भी करते हैं। कभी तो वे रास्ता भूलकर जंगलों में भटक जाते हैं। घोडेवाले प्राय: ईमानदार हैं, लोगों को लूटते धोखा देते नहीं। फिर भी जब उन्हें शक होता है कि साहब हमें उँगली दिखाना चाहते हैं तब वे भी अपनी असली सूरत दिखाते हैं। इतनी बडी भीड में यदि एकाध खराब या गंदे आदमी भी हों तो अचरज नहीं करना चाहिए। तथाकथित नागरिकों में क्या शरीफ़ उचक्के नहीं होते?

शेरखाँ इसी पेशे में बडा हुआ है। उसकी शादी हुई, बच्चे हुए और अब पोते नाती भी हैं। आज उसका नाम उपहासास्पद हो गया है। 'शेरखाँ' शब्द नूरजहाँ काव्य के वीर सेनापति का स्मरण कराता है। "शेर" सिंह और 'खाँ' वीर। मगर यह शेरखाँ शेर तो क्या, खरगोश भी नहीं रहा। इसके चेहरे पर झुर्रियाँ हैं, बढी दाढी के बीच से बत्तीसी दिखाता वह दीनता की मूर्ति नज़र आता है। कमर झुक

गई है। सिर की टोपी न जाने कितने साल पुरानी है। कपडे भी फटे पुराने। जाडे के मौसम की बात मैंने पूछी। उसने कहा कि कश्मीरवाले गरमियों में फल, आलू, मिर्च, प्याज, टमाटर सब इकट्ठा कर सुखाते और सुरक्षित रखते हैं। जाडों में इन्हीं चीज़ों को थोडा-थोडा लेकर पानी में भिगोकर अपनी ज़रूरत के अनुसार पका लेते हैं। उनकी कठिनाई का अन्दाज़ भी मैदानवाले साधारण लोग कर नहीं सकते। कश्मीर के स्वर्ग में नारकीय जीवन बिताते हुए आनेवाले पर्यटकों का दिल बहलानेवाले सैकडों शेरखाँ ही कश्मीर का यश फैलाते हैं। गुलमर्ग का चित्र देखते समय पर्वतीय प्रकृति का वह नन्दनवन और उस नन्दनवन में दुःख-दर्द का जीवन बितानेवाला गाइड शेरखाँ मेरी आँखों के सामने नज़र आता है। शायद संसार के सुख-दुःख का नियम भी यही हो।



मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै

तमिष् भाषा के अमर कवि भारतियार ने पराशक्ति देवी से वर माँगा था—"थोडी सी ज़मीन दो जिसमें चार पाँच नारियल के पेड हों। उनपर घोंसला बनाके कोयल गाती रहे। वहाँ की छाया में वैठकर मैं गीत रचूँ। मेरे गीत रचते वक्त पास सुन्दरी षोडशी प्रेयसी भी हो।" नगर के फ्लैटनामधारी पिंजडे में रहने के कारण मैं तो यही प्रार्थना करूँगा कि प्रत्येक फ्लैट के ऊपर खुली छत हो और रोज़ चाँदनी रात हो। दिल का सारा मैल और साथ ही साथ लोगों के दिल का गुब्बार पोंछ देने का जादू इस चाँदनी में होता है। नगर के कोलाहल की समाप्ति भी मन को शांति देती है। तारों के साम्राज्य का यह प्रिय शासक चंद्रराज शीतल ज्योति से सचमुच 'राज' शब्द को सार्थक बना देता है। इसका नाम 'शशी' रखकर किसी संस्कृत पंडित ने अपनी कल्पना का सतहीपन दिखाया था। चंद्रमंडल के जड भाग की झांकी में खरगोश की सी शकल देखकर चंद्रमा को शश से युक्त शशी घोषित करना बडी श्रेष्ठ कल्पना नहीं कहला सकता। फिर भी यह शब्द अपने में मीठा है और केरल में यह अत्यंत लोकप्रिय है।

शशि शब्द पर सोचते और पूर्ण चंद्र की झाँकी देखते हुए इच्छा होने लगी थी कि यहीं इसी तरह सारी ज़िन्दगी बीत जाय। कारण यह है कि इतना सुख अन्यत्र कहाँ मिले। मेरो मन अनत कहाँ सुख पावे। मेरी इच्छा शायद प्रकृति ने जान ली। तभी विनोदार्थ एक हलके बादल का परदा चंद्रमा पर थोडी देर के लिए डाल दिया।

मेरे मन में ये शब्द बारंबार उभर आ रहे थे—'मेरो मन अनत कहाँ सुख पावे'। हिन्दी के महान स्वरसाधक भक्तवर सूरदास के कंठ

से निकले शब्द थे—मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै । प्रभु के अंग अंग की छवि मन ही मन देखते, प्रभु की मुरली का नाद कल्पना के कान से सुनते और प्रभु की लीला गाते उस प्रज्ञाचक्षु को जो अपार हर्ष होता था वह अनत कहाँ उन्हें मिलता ? सुनते हैं, सूर को भी संपत्ति व पद का प्रलोभन दिया गया । मगर उन्होंने ठुकरा दिया । दक्षिण में तंजौर के राजा ने संत त्यागराज स्वामी को संपत्ति का प्रलोभन देकर अपने दरबार में बुलवाया था । मगर उंछवृत्ति पर ज़िन्दगी गुजारते भगवान का भजन करते त्यागराज ने कहा—"निधिजाल सुखमा? रामुनु सन्निधि शेवै सुखमा ?"(क्या यह धन-दौलत शाश्वत सुख देगी या राम की सन्निधि सुख देगी ?) त्यागराज के पास उत्तर भी था—प्रभु का कीर्तन ही सुखदायी है न कि नरकीर्तन। वे तंजौर की पंचनद के तट पर कुटिया में ही रहे ।

सूर तो जमुना के तट पर छोटी कुटी में बैठे संसार की दुःख-चिंताओं से रहित हो गाते रहते थे । उनकी भक्ति-साधना इस कुटी में चलती थी । ऐसी पवित्र भक्तिपूर्ण स्फूर्तिदायक स्थलियों को देखना भी सौभाग्य की बात है । अतएव अपने को भाग्यवान व्यक्तियों में गिनता हूँ कि सूरकुटी के दर्शन कर सका ।

आगरा नगर अपनी ऐतिहासिकता के कारण मशहूर है । मुगल शाहंशाहों ने अपनी प्रभुता के चिह्न यहाँ बनाये । दीने इलाही की विचित्र, पर अद्भुत साधना मानव के दंभ और धर्म के नाम के पीछे स्वार्थ के सामने पराजित हो गई थी । उसकी दर्द-भरी याद दिलाते फतहपुर सीकरी के शानदार महल मध्यकालीन वास्तुकला की गरिमा घोषित करते हैं । लाल क़िला मौन वाणी से सम्राटों का वैभव सुनाता है । यद्यपि उस किले की लाली में कितने ही बेगुनाह और अभागे लोगों के खून की लाली भी मिली होगी । सम्राट शाहजहाँ ने इतना दृढ दुर्ग बनाते समय क्या सोचा होगा कि मुझे भी यह कैद का सुखवास देगा ? अमर प्रेम-समाधि ताजमहल आदमी के प्रेम का भव्य प्रतीक और शिल्पकला का अनुपम उदाहरण बन संसार को भारत का यश सुनाता है । ये सारे भवन नश्वर मानवयश और नश्वर पार्थिव शरीर के पीछे बने थे । आगे

नगर की सीमा पार करते करते अकबर का मकबरा सिकन्दरा आता है। यह शानदार भवन उस पुरानी मुगल चित्रकला का वैभव देख पडता है, उन बादशाहों की गरिमा का चिह्न भी।

अतीत वैभव के उन स्मारकों को पार करके हम आगे मथुरा की सडक पर बढते जा रहे थे। बहुत बढिया सत्संग जमा था। असम के प्रशिक्षणार्थी हिन्दी अध्यापकों का दल, उनके नेता प्राध्यापक, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान के प्राध्यापक श्रीनारायण पिल्लाई और बडे सरल, पर गंभीर परिवहन-चालक।

अपेक्षाकृत प्रौढ अवस्था ने इन पर्यटक अध्यापकों को औसतन छात्रों की तरह ज़ोर ज़ोर से गाने बजाने नखरा करने से रोका था। फिर भी उनकी मानसिक स्फूर्ति मीठी बातों, आपसी चुटकुलों से अवश्य प्रकट हो रही थी। आगरा नगर की सीमा को पार कर चार पाँच मील यात्रा करने के बाद 'रुनकता' गाँव आया। मुख्य सडक की दाईं तरफ़ आधी पक्की और आधी कच्ची सडक मिली। हम उसी मे आगे बढ रहे थे। मन में सूर के मधुर पद एक एक कर याद आ रहे थे। कभी पालने में हरि को सुलाकर मधुर स्वर में जोइ सोइ कछु गाती जसोदा मैया की लोरी कानों में गूँज उठती तो कभी बलराम की प्रेरणा से बालक नन्दलाल को छेडते बालकों की किलकारियाँ सुनाई देतीं—उनका प्रश्न "गोरे नन्द जसोदा गोरी तुम कत स्याम सरीर"—और उस प्रश्न पर एकदम नाराज़ और उदास गोपाल का तीर की तरह माँ के पास भागते जाने का दृश्य मन ही मन नज़र आता।

सडक बहुत चौडी नहीं थी। हमारी लकज़री बस मुश्किल से जा रही थी। दोनों तरफ़ घने पेडों और झाडियों के नज़्ज़ारे। यात्री कह रहे थे कि इस वन और ग्रामवासियों ने डाकू मानसिंह को प्रश्रय दिया था। प्रकृति की गोद में किसको पनाह नहीं मिलती? वह रही माता। लोगों की मनोवृत्ति भी अजीब होती है। एक ओर सरकार के कानून न चलाने की शिकायत की जाती है। दूसरी तरफ़ सरकारी कानून को भूल मान कर उससे बचने का प्रयत्न किया

जाता है। दोनों प्रवृत्तियों के पीछे स्वार्थ है। आगे छोटी नदी मिली। हमें बताया गया कि गरमियों में यही जलराशि आगरावासियों की प्यास बुझाती है। उस अमृत धारा को प्रणाम कर फिर से दाईं ओर मुडे। अब हमारी गाडी के चालक महोदय ने आदेश दिया—"आप लोग अपने पैरों की ताक़त ज़रा आजमाइए। दो फर्लांग की दूरी पैदल चलिए और सूरकुटी के दर्शन करके आइए।" एक तरह से यह अत्यत उचित लगा। जहाँ विनय और शारीरिक कष्ट नहीं वहाँ भक्ति स्वयं कम होती है। अच्छा हुआ जो किसी मामूली पिकनिक स्पाट की तरह सूरकुटी भी मजाक की चीज़ नहीं रही। फिर भी इसका दूसरा पहलू सोचने पर दुःख देता है। भारत-भारती के गरिमामय कवि सूरदास की साधनाकुटी की सडक अब भी अविकसित रही है। कोई इसे नहीं पूछता।

यहाँ दो फर्लांग की सडक के दोनों ओर घने वृक्षगण खडे थे। तमाल, करील—सब यहाँ शायद मिलें। इनकी छाया बड़ी शीतल थी। शायद सूरदास के काव्यामृत के पान से ही ये इतने शीतल बने हों। इसी पथ के कुंजों को लक्ष्य कर जयदेव ने लिखा था— "प्रत्यध्वकुंजद्रुमं राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहः केलयः।" उस कवि ने यहीं अन्तश्चक्षुओं से देखा था—गोपियाँ इन कुंजों में आती हैं बाद में भुवनमोहिनी राधा भी पहुँचती है। वह मान किये बैठी है। उधर राधावल्लभ कदम्ब के तले बैठ धीरे धीरे मुरली बजाते हैं। मोहक मुरली के मारे मान छूटना चाहता है, पर इतना सस्ता मान छूटे तो राधा का व्यक्तित्व भी क्या रहा? अतएव वह फिर भी मान किये बैठी है। दूसरी सखियाँ मना मनाकर कुरेद कुरेदकर उसे भेजती हैं— "हरिरभिमानी रजनिरिदानीं"। भोली गोपियाँ राधा को हृदय से चाहती हैं और चाहती हैं कि राधा-कृष्ण जुग जुग आनंद से जिएँ। इस मान-मनौवल के दृश्य का वर्णन जयदेव, विद्यापति, सूर—सभी ने किया है।

हम लोग सूर की महिमा की चर्चा करते करते सूरकुटी पहुँच गये। कल्पना थी कि एक विशालकाय मंडप, सूर-संग्रहालय, चित्रावली, न

जाने क्या क्या होगा। परन्तु मन को बडी चोट लगी। एक अहाता ईंट की दीवारों से बना है। उसके बाहर पुरातत्व-विभाग के सूचना-फलक के समान एक सूचनापट्ट बतलाता है—'सूर ने यहीं रहकर काव्य-साधना की थी'। इस संस्थान की सुरक्षा का प्रयास किसी भारतीय समिति की तरफ़ से किया गया था। हम अहाते के मुख्य द्वार पर पहुँचते हैं। थोडी दूर पर यमुना बहती है। वर्षा के दिनों में वह पास भी आती होगी। अहाते के अन्दर छोटी कुटी ज्यों की त्यों है। उसी में सूर की स्मृति के चिह्न हैं।

खडे खडे मन में उस महान साधक की स्मृति आ रही थी। रोज प्रातः कृष्णलीलाएँ गाते वे छडी टेकते या शिष्यों की संगति में जमुनातट पर गये होंगे। जमुना से उन्होंने कितने ही प्रश्न पूछे होंगे। इसी जमुना में प्रभु ने विहार किया था। गोपियाँ इसी पर अपनी किशोरी लीलाएँ और मधुर आलाप करती रही थीं। उन बीते दिनों की कहानी जमुना ने भारी दिल से सुनाई होगी। इस जमुनातट पर कवि सूर ने कल्पना से श्रीकृष्ण की मधुर मुरली का गान सुना होगा ही। अग जग को—सुर नर को—गोकुल के सारे जड चेतन को मंत्रमुग्ध करती मुरली! जिसे सुनकर गोकुल के सारे नर-नारी अपना सारा काम छोड मुरलीनाद की दिशा में दौडे आते थे। गायें घास चरना छोड सुन लेतीं, साँप अपना ज़हर भूल जाता, शेर को अपनी हिंसक प्रकृति विस्मृत होती।

भारत के बाजों में मुरली की टक्कर का और कोई नहीं है। जंगल में जन्मा बाँस अपने को बेधकर जलाकर गीत गाने योग्य बनता है। दीपक राग की पूरी प्रक्रिया चलती है। इसलिए वह जनमन को आनन्द-लहरी में उतराने का साधन बनती है। टके भर का बाँस लाखों के दिल चुराता है। हज़ारों रुपये के तथाकथित जटिल पश्चिमी वाद्य-यंत्रों के सामने यह चुनौती सी खडी है।

क्या उस भावुक कवि के मन में कभी इसका दुःख नहीं रहा कि मैं दर्शनशक्ति से वंचित हूँ? दूसरे जब उनको सहारा देते या उन्हें लाठी

टेकते चलना पडता था तब क्या वे अपने मन में निराशा का अंधेरा नहीं महसूस करते थे? जिस कृष्ण की मूर्ति की कल्पना करके द्वारिकाधीश के मंदिर पर, वृन्दावन के मंदिर पर और अपनी सूरकुटी में भी नन्दकिशोर का यश गाते उसको वे अपनी आँखों से प्रत्यक्ष देखते.... काश! हो सकता है, सूर को मन ही मन दुःख हुआ भी हो। अगर वे भावुक न होते तो इतना प्रभावशाली काव्य न लिख पाते। परन्तु प्रभु वल्लभाचार्य जैसे संतों की शीतल वाणी, विद्वत्तापूर्ण उपदेश व कथामृत सुनते सुनते सूर के मन में संसार की असारता का बोध हुआ होगा।

इस सवाल का आखिरी उत्तर तो यही कि प्रभु की इच्छा बलीयसी है। वे यही चाहते थे कि सूरदास तन मन से मेरा यश गावें। उन्हें मनश्चक्षु, मानसिक विवेक, ज्ञान और भक्ति का धन दिया था। अपने भक्ति-महल में रहते हुए सूर सदा एक ही व्यक्ति को देखते— नन्दकिशोर को। उनकी विभिन्न लीलाएँ देखते। अगर दूसरे को देखते तो प्रभु वल्लभाचार्य या सत्संगति के शिष्यों को। उनके साथ सूर ने क्या कभी सांसारिक बातें की होंगी? नहीं की होंगी।

अपनी कुटी में एकतारा के तारों को झनझनाते हुए सूर का कोमल कंठ स्वयं ध्वनिमय हो उठता था। कभी भैरव, कभी असावरी, कभी टोडी, कभी मल्हार। कृष्ण की कोई लीला गा उठते। शिष्यगण उन्हें कंठस्थ करते। वे उन्हें कभी कागज़ पर, कभी हृदय में उतार लेते। वह निर्झरिणी प्रवाहित हो उठती। गणेशजी जैसे कुशल लेखक मानव समाज में कहाँ से मिलते? इसलिये कुछ ही गीत विस्मृति में खोये बिना बच सके। शेष नष्ट हुए। जो बचे हैं उन्हीं को गाते गाते हम पुलकित हो उठते हैं।

क्या कारण था कि सूर ने अपने नन्दलाल से इतनी आज़ादी ली थी? अगर वे प्रज्ञाचक्षु न होते तो प्रभु के मुख पर सिकुडन देख चौंक पडते। लेकिन यहाँ वे प्रभु से मन ही मन बातें कर सकते। उन्होंने नन्दलाल को अपना सखा बना लिया। गोकुल के सैकडों ग्वालों को सखा बनानेवाले नन्दलाल सूर को भी क्यों सखा न बनाते? एक बार

सखा वने तो फिर क्या था ? सारी बातें, विनोद व मजाक मसखरे मन से बताने की आजादी दिखाते थे । श्रीकृष्ण ने अपने परम मित्र उद्धव को गंभीर संदेश देकर भेजा था । उद्धव ने अध्यात्म का परम तत्व सिखाना चाहा कि भगवान का रूप नहीं, वे अरूप हैं । मगर सूर ने गोकुल की गोपियों का पक्ष लिया । उन्होंने गोपियों के साथ मिलकर उद्धव की इतनी हँसी उडाई कि वे अपनी भूल पर पछताये । सूर अचंचल रागात्मिका भक्ति का मर्म पहचान सकते थे । और तो और, कृष्ण की भक्ति के नाते गोपियाँ एवं सूरदास एक ही कोटि के, एक ही बिरादरी के रहे । अपने गोत्र या बिरादरी के लोगों का पक्ष लेना प्रत्येक का कर्तव्य तो है ही ।

गृहस्थी या सांसारिक जीवन-सुख से वंचित, एकांतवासी प्रज्ञाचक्षु सूरदास ने जिस वाग्विदग्धता से उद्धव को लताड दिया उसे समझते समझते सूर के हृदय की विनोद-निर्झरिणी में हम पैठ सकते हैं । उनकी गोपियों के सुन्दर तर्कों में यह कैसा अनूठा है !

उधो मन नाहीं दस बीस
एक हुतो सो गयो स्याम संग को आराधै ईस ॥

ज्ञानोपदेश केलिए मथुरावासी कुब्जा के पास लौटने को सुझाने-वाली गोपियों के वचनों में सूरदास की अनुपम भक्ति झलकती है ! अपने प्रभु को छीन लेनेवाली कुब्जा से गोपियों की ईर्ष्या भी ये कवि भली भाँति समझ सकते हैं ।

उस कुटी में बैठे महात्मा सूर की वाणी में कैसा जादू था ! तुलसी ने अपने प्रभु की जीवनलीला क्रमबद्ध रूप से गायी अवश्य । उन्होंने आनुषंगिक रूप से सामाजिक समस्याओं की चर्चा भी की । मानसिक पहेलियों पर उन्होंने प्रकाश डालना भी जान लिया था । इतना विस्तृत विवेचन तो सूर ने नहीं किया । फिर भी बालक, गोप-गोपियाँ, नन्द-यशोदा, कंस, उद्धव, कुब्जा, राधा आदि के मन की हर प्रतिक्रिया को परख परखकर उसका उत्तर देने की यह कुशलता क्या कम है ?

इन्हीं चिन्ताओं में डूबते उतराते हम सूरकुटी से लौटे। लौटते समय मन में दो प्रतिक्रियाएँ उठ रही थीं। जिन्होंने सूरकुटी पर कम से कम वर्तमान स्मारक बनाया उनकी सद्भावना के प्रति हम सब कृतज्ञ हैं। इसे राष्ट्रीय गरिमा का स्थान बनाने केलिए समर्थ व्यक्ति और संस्थाएँ आगे बढ़ें-- यह इच्छा भी उठ रही थी। आगरा के मुहब्बत के निशान ताजमहल या प्रभुता के चिह्न लाल किले के दर्शनों से मन उतना तरंगित नहीं हुआ जितना इस गरीब कवि की टूटी कुटी के दर्शनों से। आखिर हिन्दी का प्रेमी और भारतीय गरिमा का आराधक अध्यापक अनत कहाँ सुख पावे।



डॉ. एन. ई. विश्वनाथ अय्यर, एम. ए. (हिन्दी, संस्कृत), पी-एच. डी. दक्षिण के अग्रणी हिन्दी लेखकों में प्रमुख हैं। आप वर्षों तक केरल विश्वविद्यालय में तथा वाद में कोचिन विश्वविद्यालय में स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग के आचार्य एवं अध्यक्ष थे। तुलनात्मक समीक्षा, अनुवाद तथा अनुसंधान की कई दिशाओं में आपने रुचि ली है और ग्रंथ लिखे हैं। मौलिक सृजन में आपने ललित निबन्ध को विशेष प्रेम से अपनाया है। आपका प्रथम ललित-निबन्ध-संग्रह "शहर सो रहा है" बहुचर्चित है और कई पुरस्कारों से सम्मानित है। "उठता चाँद डूबता सूरज" आपका दूसरा ललित-निबन्ध-संग्रह है।

लेखक के कुछ अन्य उपलब्ध
ग्रन्थ एवं प्रकाशक

आधुनिक हिन्दी काव्य तथा
मलयालम काव्य
नैषनल पब्लि० हौस,
नई दिल्ली।

राष्ट्रभारती को केरल का योगदान
विश्वविद्यालय प्र०, वाराणसी।

विज्ञानयोगिनी
हस्ताक्षर, 223/3 सब्जी मंडी,
कुरुक्षेत्र।

व्यापारिक और
प्रशासनिक पत्र-व्यवहार
स्वाति प्रकाशन, त्रिवेंद्रम।

श्री विश्वनाथ अय्यर का सबसे ताज़ा निबन्ध-संग्रह 'उठता चाँद डूबता सूरज' मन में कई विचार एक साथ उठाता है।......श्री अय्यर बहुत ही सीधी सादी भाषा में सीधी सादी बातें करते हैं, पर उसका ढंग छूता है, उसमें निर्व्याज सुन्दरता है।......श्री अय्यर केरल से कश्मीर तक की बात और विश्व हिन्दी सम्मेलन के व्याज से दूर दिगन्त की बात करते हैं तो लगता है कि शंकराचार्य के देश का होने का फल चरितार्थ कर रहे हैं, सारी भूमि उनकी है, सभी जन उनके अपने जन हैं......इसमें यात्राओं के अनुभवों के कुछ चित्र हैं, कुछ व्यक्तियों के संस्मरण हैं; कुछ भारत की उत्सवप्रिय प्रकृति का विवेचन है......और कुछ गहरी सांस्कृतिक अस्मिता के संकल्प हैं। यह अंतिम गुण ही इन निबन्धों को गौरव प्रदान करता है।

डॉ. विद्यानिवास मिश्र

प्रो० विश्वनाथ अय्यर के ललित निबन्धों में मानों पूरे भारत की संस्कृति झाँकती है।......उत्तर और दक्षिण के कतिपय रमणीक और ऐतिहासिक स्थानों का आकर्षक वर्णन है जो हिन्दी पाठकों को विशेष जानकारी प्रदान करता है और भावात्मक एकता को बढाता है।......प्रो० अय्यर दक्षिण के उन हिन्दी विद्वानों और लेखकों में हैं जिन्होंने अपनी लेखनी द्वारा हिन्दी का साहित्य-भण्डार भरा है।

लल्लनप्रसाद व्यास

स्वाति प्रकाशन, 26/2035,
कालेज लेन, त्रिवेंद्रम 695001.

Cover Printed at St. Joseph's Press, Trivandrum-695014.